हमारी योजना

'हिन्दी काव्यादर्श' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रथमाला का तेरहवां ग्रथ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, की सस्था है जिसकी स्थापना अक्तूवर सन् १६५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—हिन्दी वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथो का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रथ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रंथो का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है,दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी है। प्रथम वर्ग के अतर्गत प्रकाशित ग्रथ हैं—'हिन्दी काव्यालकारसूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'अरस्तू का काव्यशास्त्र'। प्रस्तुत ग्रथ इसी वर्ग का चौथा ग्रथ है। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर गण्यमान्य विद्वानो के निवन्ध सकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रथ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, (२) हिन्दी नाटक · उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला तथा (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-सस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

—नगेन्द्र

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अध्यक्ष

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दो शब्द

श्री रणवीर सिंह एम० ए० ने काव्यादर्श जैसे प्रामाणिक और गम्भीर ग्रंथ की टिप्पणी सहित हिन्दी व्याख्या करके संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों का बहुत उपकार किया है। व्याख्या स्पष्ट है। टिप्पणियों ने उसकी उपयोगिता को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। भूमिका में काल-निर्णय, दण्डी के अन्य ग्रन्थ, दण्डी की कविता सम्बन्धी मान्यतायें आदि अनेक विषयों का जो विवेचन किया गया है वह भी उपयोगी है। भूमिका के अंत में रणवीर सिंह जी ने लिखा है—"श्रद्धेय गुरुवर डा० विजयेन्द्र स्नातक जी ने अपना अमूल्य समय देकर इस अनुवाद को आद्यन्त पढ़ा और शुद्ध किया है। उनकी इस कृपा के लिए किसी प्रकार की शाब्दिक कृतज्ञता प्रकट करना कदाचित् उपयुक्त न होगा। उनकी शिष्यवत्सलता के बल पर ही मैं यह दुरूह कार्य करने का साहस कर सका हूँ।" इन पंक्तियों से जहाँ श्री रणवीर सिंह जी का विनय भाव सूचित होता है वहाँ साथ ही पुस्तक पर मानो प्रामाणिकता की मोहर लग गई है। यह पुस्तक न केवल संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए अपितु हिन्दी की उच्च श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

उपकुलपति
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
३१ मार्च १९५८

इन्द्र विद्यावाचस्पति

मुखबन्धः

श्रीरणवीरसिंहेन कृतं काव्यादर्शस्य हिन्दीभाषायामनुवादं स्थालीपुलाकन्यायेन मया यथावसरं क्वचित् क्वचिदवलोकितम्।

काव्यमीमांसाग्रन्थेषु काव्यादर्शस्य सुतरामभ्यर्हितं स्थानमस्ति।

काव्यमीमांसाशास्त्रस्य पञ्च प्रस्थानानि विद्यन्ते। तानि च—शब्दार्थसाहित्यप्रस्थानं, शब्दप्राधान्यप्रस्थानं, केवलरसप्रस्थानं, ध्वनिप्रस्थानं, ध्वनिध्वंसप्रस्थानं च। तत्र शब्दप्राधान्यप्रस्थाने शब्दस्यैव प्राधान्यं, काव्यशरीरत्वं चाभ्युपगतम्। अस्य प्रस्थानस्य उपलभ्यमानः प्राचीनतमो ग्रन्थस्तु दण्ड्याचार्येण विरचितः काव्यादर्श एव वर्तते। 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'त्युक्त्या शब्दस्यैव प्राधान्यमर्थस्य च विशेषणत्वं दण्डिना स्वयमेवोद्घोषितम्। परन्तु प्रस्थानमिदं न तदुपज्ञमेव। अनेन हि, 'पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च' स्वग्रन्थः काव्यादर्शो विरचितः। दण्ड्याचार्यः खलु 'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः' इति ब्रुवन्, 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' इत्युक्त्या तत्प्राणस्य काव्यस्य शोभामात्रहेतुत्वमलङ्काराणां प्रख्यापयन् तयोर्भेदं स्फुटतरमेव प्रतिपादयति। अत्र प्रतीयते—गुणानामेवान्तरङ्गत्वम्, अलङ्काराणां च बहिरङ्गत्वं तन्मते। भामहमतादस्यायमेव भेदः नूनम्। पण्डितराजजगन्नाथोऽपि शब्दप्राधान्यप्रस्थानस्याचार्यः। अयं हि 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्य'मिति काव्यलक्षणं कुर्वन् दण्डिनः शब्दप्राधान्यमतं महता प्रबन्धेन प्रत्यपादयत्।

अथैतादृशस्य सुतरामुपयोगमावहतो ग्रन्थस्य काव्यादर्शस्य हिन्दीभाषायामनुवादः ननु आवश्यक एवासीत्। श्रीरणवीरसिंहस्तत् कार्यमधुना महता प्रयत्नेन सौष्ठवेन च सम्पादयन्नस्माकं महान्तमानन्दं जनयति। एतेनानुवादेन छात्राणां महानुपकारो भविष्यतीति दृढमाशासे।

आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डा० नरेन्द्रनाथ शर्मा चौधुरी,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली। एम० ए०, डी० लिट्०

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद (१–१०५)

तृतीय परिच्छेद (१—१८७)

भूमिका

काल-निर्णय

संस्कृत-काव्यशास्त्र-प्रणेताओं में आचार्य दंडी एक प्रमुख आलंकारिक हैं। कवियों के लिए मार्ग-दर्शन देनेवाला महान् ग्रंथ काव्यादर्श लिखकर दंडी ने अलंकार-सम्प्रदाय को व्यवस्थित रूप दिया है। दंडी के प्रादुर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। काव्यादर्श के आधार पर विद्वानों ने दंडी के काल-निर्णय का यत्किंचित् प्रयास किया है किन्तु उस प्रयास से दंडी के जन्म-संवत् का बोध नहीं होता, केवल उनके अन्तिम समय का काल-निर्धारण होता है। अर्थात् दंडी छठी शताब्दी के अन्त तथा सातवीं के प्रारंभ में विद्यमान थे ऐसा कुछ अनुमान होता है। विभिन्न ग्रंथों में दंडी का जिस रूप में उल्लेख किया गया है उसके आधार पर निम्नलिखित मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१ कन्नड भाषा
२ सिंहली भाषा
३ प्रतिहारेन्दुराज
४ वामन के ग्रंथ
५ अभिनवगुप्ताचार्य

१—कन्नड भाषा के 'कविराजमार्ग' नामक ग्रंथ के प्रणेता राष्ट्रकूट के राजकुमार अमोघवर्ष ने अपने ग्रंथ में अलंकारों का वर्गीकरण किया है। उसके सम्पादक श्री पाठक के कथनानुसार उस ग्रंथ में साधारणोपमा, असंभवोपमा, विशेषोक्ति और अतिशयोक्ति की परिभाषाएँ दंडी के काव्यादर्श से ही अनुवादित हैं तथा ग्रंथ के अन्य भागों पर भी काव्यादर्श का पर्याप्त

"अतएव दण्डिना लिम्पतीव।" इत्यादि

४—वामन के ग्रंथ काव्यालंकार के अनुशीलन से प्रतीत होता है वामन से दडी प्राचीन हैं। दडी ने रीति-सिद्धान्त का जो विवेचन किया उसे वामन ने अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया हैं। दडी ने वैदर्भ और गौड मार्गों का ही उल्लेख किया है किंतु वामन ने वैदर्भी, गौडी और पाचाली तीन रीतियों का निर्देश करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। वामन ने इनको रीति नाम से अलकृत करके काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। दडी वामन के एक नये भेद पाचाली तथा रीति इस पारिभाषिक शब्द से सर्वथा अपरिचित था। वामन का समय नवी श० ई० का उत्तरार्द्ध है

५—अभिनवगुप्ताचार्य ने (१०वी शताब्दी) ध्वन्यालोक की व्याख्या 'लोचन' मे लिखा है—

"यथाह दडी—'गद्यपद्यमयी चम्पू.।"

इन आधारो पर दडी की अतिम सीमा सन् ०ई० के लगभग हो सकती है। शार्ङ्गधरपद्धति में विज्जिका नाम्नी एक लेखिका का एक श्लोक मिलता है जिसमें उसने दडी पर व्यग्य किया है। यदि विज्जिका के दूसरे नाम विजियाका को प्रामाणिक माना जाय तो दडी की अन्तिम सीमा विज्जिका के पूर्व लगभग सन् ६०० ई० तक चली जाती है। पर विद्वानो ने इसे भ्रामक माना है।

इसके अतिरिक्त ईसवी सन् की छठी शताब्दी के सुबन्धु-प्रणीत वासव-

सहित विस्तृत निरूपण के कारण ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापकों में आचार्य दंडी का अन्यतम स्थान है। दंडी ने अलंकारों का क्रम भामह के सदृश ही रखा है। अलंकारों को परिच्छेदों में विभक्त करके भामह ने उन्हें स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया है। दंडी ने भी अलंकारों के महत्त्व को पूरी समग्रता के साथ ग्रहण किया है।

इस प्रकार दंडी ही ऐसे प्रधान साहित्याचार्य हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्तियों में अलंकारों के सर्वाधिक उपभेदों का तथा गुण एवं रीति का विस्तृत निरूपण किया है। उनका काव्यादर्श अलंकार-मार्ग के प्रतिपादन के साथ-ही-साथ रीति मार्ग का भी प्रदिपादन करता है। इस प्रकार यह ग्रंथ भामह का अनुसरण करता हुआ वामन के पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है।

भामह तथा दंडी का पौर्वापर्य

भामह तथा दंडी के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों का परस्पर बड़ा मतभेद है। इन दोनों आचार्यों के अलंकार-विषयक ग्रंथों का अनुशीलन करने पर ऐसा आभास होता है कि इन दोनों ग्रंथों का परस्पर कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है। वाक्य, शब्द, अर्थ तथा विचारों के आधार पर यह विचार और अधिक पुष्ट होता है कि 'काव्यालंकार' तथा 'काव्यादर्श' की भाव-वस्तु ही नहीं अभिव्यंजना में भी किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य है।

एक को दूसरे से पूर्व सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम श्री नरसिंह आयंगर ने यह प्रश्न उठाया और दंडी को भामह का पूर्ववर्ती घोषित किया। किन्तु प्रो० पाठक, एम० के० डे०, मि० त्रिवेदी, डा० जैकोबी, प्रो० रंगाचार्य तथा डा० गणपति शास्त्री आदि विद्वानों ने भामह को ही दंडी का पूर्ववर्ती स्वीकार किया।

भामह ने कथा और आख्यायिका में भेद मानते हुए उन्हें भिन्न-भिन्न बतलाया है। पर दंडी ने कथा और आख्यायिका को एक ही जाति का माना है (देखिए परिच्छेद १, २८वां श्लोक)। इस जातिगत ऐक्य पर कुछ विद्वानों का मत है कि यह दंडी द्वारा भामह की आलोचना है। कुछ अन्य आधारों के [illegible] भी इस विषय में सहायता मिलती है। जैसे भामह द्वारा निरूपित

काव्यादर्श ही मिलता है। काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में रीति व गुणो का तथा दूसरे परिच्छेद में अलकारो का विस्तृत वर्णन किया गया है।

यद्यपि पूर्वकाल से ही रीति-तत्त्व का अस्तित्व काव्यशास्त्र में स्वीकृत था पर वास्तव में दडी ने ही सस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में रीति को प्रथम बार नवजीवन प्रदान किया। दडी ने अत्यन्त तन्मयता से रीति का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया। इस विशद निरूपण के कारण कुछ विद्वान् दडी को रीतिवादी मानते हैं। काव्यादर्श में 'मार्ग' शब्द रीति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (देखिए श्लोक न० ४० प्रथम परिच्छेद)। इस प्रकार दडी ने अत्यन्त स्पष्ट-भेदयुक्त वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों का वर्णन करते हुए दश गुणो को वैदर्भ मार्ग के प्राणस्वरूप माना। गौडीय मार्ग में इन गुणो का प्राय विपर्यय स्वीकार किया। भरत ने श्लेष, प्रसाद आदि को काव्यगुण माना है परन्तु दडी ने उन्हे वैदर्भ मार्ग के गुण माना है। इस प्रकार दडी ने सर्वप्रथम रीति और गुण का सम्बन्ध स्थापित किया। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय (भामह का न्यायदोष-प्रकरण यदि दडी से अधिक महत्वपूर्ण है) तो दडी की रीति और गुणो के विवेचन की नवीनता भामह की अपेक्षा कही अधिक स्पष्ट और उपयोगी है। दडी के रीति-विवेचन को देखकर हम कह सकते है कि रीति-सम्प्रदाय, जो आगे चलकर वामन द्वारा समर्थित होकर पूर्णता को प्राप्त हुआ, **उसका बहुत-कुछ श्रेय दडी को ही है**। दूसरे शब्दो में यो कह सकते हैं कि वामन ने दडी द्वारा निर्मित शरीर में आत्मा का सन्निवेश कर दिया।

अलकार-सम्प्रदाय में तो **दडी ने अलंकारों के भेद-प्रभेद प्रस्तुत करके** उनकी सीमा-परिधि को बहुत व्यापक बना दिया। प्रत्येक अलकार को स्पष्ट करने के लिए उसके भेदोपभेदो का प्रतिपादन किया। दडी ने शब्दा-लकारो में यमक का ७७ श्लोको में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उन्होने शब्दालकारो की अपेक्षा अर्थालकारो को अत्यन्त महत्त्व प्रदान करते हुए उनका बहुत ही विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है जोकि उनके पाडित्य का पूर्ण परिचायक है। अलकारो का बहुत ही विस्तारपूर्वक भेदोपभेदो

सहित विस्तृत निरूपण के कारण ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापकों में आचार्य दंडी का अन्यतम स्थान है। दंडी ने अलंकारों का क्रम भामह के सदृश ही रखा है। अलंकारों को परिच्छेदों में विभक्त करके भामह ने उन्हें स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया है। दंडी ने भी अलंकारों के महत्त्व को पूरी समग्रता के साथ ग्रहण किया है।

इस प्रकार दंडी ही ऐसे प्रधान साहित्याचार्य हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्तियों में अलंकारों के सर्वाधिक उपभेदों का तथा गुण एवं रीति का विस्तृत निरूपण किया है। उनका काव्यादर्श अलंकार-मार्ग के प्रतिपादन के साथ-ही-साथ रीति मार्ग का भी प्रदिपादन करता है। इस प्रकार यह ग्रंथ भामह का अनुसरण करता हुआ वामन के पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है।

भामह तथा दंडी का पौर्वापर्य

भामह तथा दंडी के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों का परस्पर बड़ा मतभेद है। इन दोनों आचार्यों के अलंकार-विषयक ग्रंथों का अनुशीलन करने पर ऐसा आभास होता है कि इन दोनों ग्रंथों का परस्पर कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है। वाक्य, शब्द, अर्थ तथा विचारों के आधार पर यह विचार और अधिक पुष्ट होता है कि 'काव्यालंकार' तथा 'काव्यादर्श' की भाव-वस्तु ही नहीं अभिव्यंजना में भी किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य है।

एक को दूसरे से पूर्व सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम श्री नरसिंह आयंगर ने यह प्रश्न उठाया और दंडी को भामह का पूर्ववर्ती घोषित किया। किन्तु प्रो० पाठक, एन० के० डे०, मि० त्रिवेदी, डा० जैकोबी, प्रो० रंगाचार्य तथा डा० गणपति शास्त्री आदि विद्वानों ने भामह को ही दंडी का पूर्ववर्ती स्वीकार किया।

भामह ने कथा और आख्यायिका में भेद मानते हुए उन्हें भिन्न-भिन्न बतलाया है। पर दंडी ने कथा और आख्यायिका को एक ही जाति का माना है (देखिए परिच्छेद १, २८वां श्लोक)। इस जातिगत ऐक्य पर कुछ विद्वानों का मत है कि यह दंडी द्वारा भामह की आलोचना है। कुछ अन्य आधारों के बल भी इस विषय में सहायता मिलती है। जैसे भामह द्वारा निरूपित

अलकार पृथक्-पृथक् वर्ग में विभक्त है । भामह के पूर्ववर्ती आचार्यो ने जितनी सख्या के अलकारो का निरूपण किया था उनको भामह ने एक-एक वर्ग में पृथक्-पृथक् रक्खा है परन्तु दडी द्वारा निरूपित सभी अलकारो का एक-साथ ही द्वितीय परिच्छेद के आरम्भ में नामोल्लेख कर दिया गया है । साथ ही यह बतलाया गया है कि पहले भी अनेक आचार्यों द्वारा अलकारो का निरूपण हुआ है । भामह के समकालीन तथा पूर्ववर्ती ग्रथो में जो अलकार पृथक्-पृथक् बिखरे हुए थे उनको उसने एकत्र करके पृथक्-पृथक् वर्ग में समाविष्ट कर दिया पर न तो वे अधिक परिष्कृत ही किये गये और न उनका विस्तार ही दिखाया गया । अत यह तथ्य भामह की प्राचीनता का परिचायक है । परन्तु दडी ने अलकारो के परिष्कार एव भेद-उपभेदो के द्वारा उनका सविस्तार वर्णन किया है । 'काव्यादर्श' में यह बात प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है । भामह ने हेतु अलकार को न मानते हुए उसके उदाहरण पर भी आक्षेप किया है । पर दडी ने उसी हेतु अलकार का वही उदाहरण दिखाते हुए भामह के आक्षेप का समाधान किया है । भामह ने वैदर्भी तथा गौडी रीतियो में भिन्नता स्वीकार नही की है किन्तु दडी इसके विरुद्ध परिच्छेद १ के ४०वें श्लोक में कहते हैं कि वैसे तो सूक्ष्म भेद वाले काव्य-मार्ग अनेक है पर वैदर्भी और गौडी यह दो स्पष्ट भिन्नता वाले मार्ग हैं । इसका उदाहरण द्वारा समर्थन किया जाना सम्भवत भामह की ही आलोचना है ।

उधर श्री पी० वी० काने ने दोनो ओर की युक्तियो का निष्पक्ष भाव से परीक्षण करके यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि किसी ओर भी इस प्रश्न पर अपना निश्चय देना सम्भव नही है । यद्यपि युक्तियो को देखने से ऐसा मालूम होता है कि प्रवृत्ति दडी को ही भामह के पूर्व रखने की ओर जाती है । वह सक्षेप में अपनी युक्ति इस प्रकार प्रस्तुत करते है—"यही सम्भव मालूम देता है कि भामह और दडी दोनो स्वतन्त्र विचारो को लेकर चलते हैं । भामह तो आलकारिको की ओर अधिक झुके हैं और दडी भरत की ओर । कोई भी पहले हुए हो, दोनो लगभग समकालीन हैं और ५०० ई०

और ६३० ई० के मध्य में आ जाते है।" डा० डे ने तो अपनी युक्तियो के वल से यही सिद्ध किया है कि जिस पक्ष में अधिक लोग है वही न्यायत. अधिक प्रवल है, अर्थात् भामह दडी से पूर्ववर्ती है।

सक्षेप में यही कह सकते है कि सम्भवत दडी भामह के ग्रथ से परिचित थे जिसकी वह अवहेलना न कर सके। इस मत से दडी के प्राय सभी टीकाकार तरुण वाचस्पति, हरिनाथ, वादिजघाल आदि सहमत है। अतएव सम्भवत दडी से भामह को पूर्ववर्ती माना जाना ही समीचीन प्रतीत होता है।

दंडी के ग्रंथ

जिस प्रकार आचार्य दडी के काल के विपय में विद्वानो में मतभेद है, उसी प्रकार उनके ग्रथो के विपय में भी पर्याप्त विवाद है। परन्तु अधिकाश विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा इन तीनो ग्रथो का प्रणयन दडी ने ही किया था।

काव्यमीमासाकार राजशेखर के एक श्लोक से पता चलता है कि दडी ने तीन प्रसिद्ध प्रवन्ध काव्यो की रचना की थी। श्लोक इस प्रकार है—

त्रयोग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणा. ।
त्रयो दंडिप्रवन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

शार्ङ्गधरपद्धति तथा जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावली में भी यह श्लोक उद्धृत हुआ है। इसी श्लोक के आधार पर विद्वानो ने दडी के तीन प्रवन्धों का पता लगाने का प्रयत्न किया। प्राय **काव्यादर्श** और **दशकुमारचरित** को तो विद्वानो ने दडीप्रणीत ग्रथो के रूप में स्वीकार कर लिया, पर तृतीय ग्रथ के विपय मे अभी तक असदिग्ध रूप मे कोई निर्णय नही हो सका है।

पिशल ने **'लिम्पतीव तमोङ्गानि'** इस श्लोक के आधार पर **मृच्छकटिक** को दडी का तीसरा ग्रथ माना। पर भासरचित अन्य दो नाटको में भी इस श्लोक के मिलने मे इनका मत पूर्णरूपेण अमान्य हो गया।

हमें काव्यादर्श में अन्य ग्रथो के साथ-साथ ऐसे दो ग्रथो का भी उल्लेख मिलता है जिनको विद्वानो ने दडी की कृति के रूप में स्वीकार किया है, वे हैं—**छन्दोविचिति** तथा **कलापरिच्छेद**।

श्री पीटरसन तथा डा० जैकोबी ने छन्दोविचिति को ही दडी का तीसरा ग्रथ माना है। उनके इस मत का निराकरण करते हुए श्री पी०वी० काने ने लिखा है कि छन्दोविचिति कोई ग्रथ नही वरन् छन्दोविद्या—पिंगल-शास्त्र का ही पर्यायवाची है।

कुछ विद्वान् 'कलापरिच्छेद' को दडी का तीसरा ग्रथ मानते है। इस ग्रथ पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए साहित्यदर्पण की भूमिका में श्री पी० वी० काने लिखते हैं कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दडी ने कला विषयक एक अध्याय लिखा होगा जोकि काव्यादर्श का ही एक भाग रहा होगा। पर कलापरिच्छेद स्वतन्त्र रूप में तीसरा ग्रथ नही हो सकता। आज जिस रूप में हमें काव्यादर्श ग्रथ उपलब्ध है उसमें कलापरिच्छेद नाम का कोई परिच्छेद नही मिलता। ऐसा सम्भव हो सकता है कि दडी ने काव्यादर्श के एक और परिच्छेद के रूप में कलापरिच्छेद को लिखने का विचार किया हो।

दडी द्वारा रचित ग्रथो का विषय एक तो स्वय ही वहुत उलझा हुआ था। उस पर श्री त्रिवेदी तथा आगाशे ने यह कहकर कि काव्यादर्श का लेखक दशकुमारचरित का लेखक नही हो सकता, इस समस्[illegible] ी जटिल वना दिया। इनका कहना है कि दडी ने काव्या[illegible] का प्रतिपादन किया है वे उसका स्वय ही दशकुमारच[illegible] हैं। अत हम दोनो रचनाओ को एक ही लेखक की कृ[illegible] सकते। परन्तु यह वात नितान्त भ्रामक है। काव्यादर्श [illegible] कुमारचरित गद्य में लिखा गया है। यदि एक मे समासव[illegible] है तो दूसरे में इसका अभाव ही अभिप्रेत है। यह भी [illegible] दडी ने युवावस्था में दशकुमारचरित की रचना की [illegible] प्रथम रचना होने के कारण सदोप हो सकती है। और [illegible]

ज्ञान के साथ प्रौढावस्था में लिखा जाने के कारण दोपरहित ग्रथ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

कुछ विद्वानो ने दडी का तीसरा ग्रथ द्विनवानकाव्य माना है। श्री पी० वी० काने ने एक स्थान पर लिखा है कि डा० राघवन ने मुझे यह सूचना दी है कि शृगारप्रकाश की पाडुलिपि में दडीकृत द्विमधानकाव्य का दो स्थलो पर उल्लेख मिलता है। पर अभी तक द्विसधानकाव्य देखने में नही आया है। एक श्लोक के आधार पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि यह काव्य दडी ने ही वनाया था।

अवन्तिसुन्दरी-कथा के प्रकाशित होने से यह समस्या वहुत-कुछ सुलझ गई है। आज अधिकाश विद्वान् यह मानने लगे है कि दडी की तृतीय कृति अवन्तिसुन्दरी-कथा ही है। अवन्तिसुन्दरी-कथा एक प्रकार से दशकुमार-चरित की पूर्वपीठिका की कथा का ही विस्तृत रूप प्रतीत होता है ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। इसलिए श्री हरिहर शास्त्री तथा डा० डे ने इसके प्रकाशित होने पर इसको दडी की कृति मानने में शका की है। इस ग्रथ का अनुशीलन करने से दडी की शैली के विपय में जो आभास मिलता है वह परिवर्द्धन तथा परिवर्तन तो ससार का एक शाश्वत नियम है। यह तो केवल कृति मात्र है। इसमें यदि विस्तृत रूप या परिवर्द्धन दृष्टिगत होता है तो कोई आश्चर्य की वात नही। श्री पी० वी० काने का मत भी यही है कि अवन्तिसुन्दरी-कथा दडी की तृतीय कृति मानी जा सकती है।

इस प्रकार अधिकाश विद्वानो का मत यही प्रतीत होता है कि काव्या-दर्श, दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी-कथा ही दडी के तीन ग्रथ हैं।

इन तीनो ग्रथो के अध्ययन ने विदित होता है कि दडी केवल आलं-कारिक ही नही थे प्रत्युत काव्यकलामर्मज्ञ तथा गद्यशैली-निर्माता भी थे। उनके दगकुमारचरित और अवन्तिनुन्दरी-कथा सस्कृत गद्य के इति-हास में अपनी चारुता, मनोरजकता तथा सरसता के लिए चिरस्मरणीय रहेगे। काव्यादर्श के समस्त उदाहरण दडी की निजी रचनाएँ है। इन पद्यो में सरसता तथा चारुता पर्याप्त, मात्रा में विद्यमान है। अत. आलकारिक

हमें काव्यादर्श में अन्य ग्रथो के साथ-साथ ऐसे दो ग्रथो का भी उल्लेख मिलता है जिनको विद्वानो ने दडी की कृति के रूप में स्वीकार किया है, वे हैं—**छन्दोविचिति** तथा **कलापरिच्छेद**।

श्री पीटरसन तथा डा० जैकोबी ने छन्दोविचिति को ही दडी का तीसरा ग्रथ माना है। उनके इस मत का निराकरण करते हुए श्री पी०वी० काने ने लिखा है कि छन्दोविचिति कोई ग्रथ नही वरन् छन्दोविद्या—पिंगल-शास्त्र का ही पर्यायवाची है।

कुछ विद्वान् 'कलापरिच्छेद' को दडी का तीसरा ग्रथ मानते है। इस ग्रथ पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए साहित्यदर्पण की भूमिका में श्री पी० वी० काने लिखते हैं कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दडी ने कला विषयक एक अध्याय लिखा होगा जोकि काव्यादर्श का ही एक भाग रहा होगा। पर कलापरिच्छेद स्वतन्त्र रूप में तीसरा ग्रथ नही हो सकता। आज जिस रूप में हमें काव्यादर्श ग्रथ उपलब्ध है उसमें कलापरिच्छेद नाम का कोई परिच्छेद नही मिलता। ऐसा सम्भव हो सकता है कि दडी ने काव्यादर्श के एक और परिच्छेद के रूप में कलापरिच्छेद को लिखने का विचार किया हो।

दडी द्वारा रचित ग्रथो का विषय एक तो स्वय ही बहुत उलझा हुआ था। उस पर श्री त्रिवेदी तथा आगाशे ने यह कहकर कि काव्यादर्श का लेखक दशकुमारचरित का लेखक नही हो सकता, इस समस्या को और भी जटिल बना दिया। इनका कहना है कि दडी ने काव्यादर्श में जिन बातो का प्रतिपादन किया है वे उसका स्वय ही दशकुमारचरित में उल्लघन करते हैं। अत हम दोनो रचनाओ को एक ही लेखक की कृति स्वीकार नही कर सकते। परन्तु यह बात नितान्त भ्रामक है। काव्यादर्श पद्यबद्ध है तथा दशकुमारचरित गद्य में लिखा गया है। यदि एक में समासबाहुल्य गद्य का जीवन है तो दूसरे में इसका अभाव ही अभिप्रेत है। यह भी सम्भव हो सकता है कि दडी ने युवावस्था में दशकुमारचरित की रचना की हो, जो कि कवि की प्रथम रचना होने के कारण सदोष हो सकती है। और काव्यादर्श परिपक्व

ज्ञान के साथ प्रौढावस्था में लिखा जाने के कारण दोषरहित ग्रथ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

कुछ विद्वानो ने दडी का तीसरा ग्रथ द्विसधानकाव्य माना है। श्री पी० वी० काने ने एक स्थान पर लिखा है कि डा० राघवन ने मुझे यह सूचना दी है कि शृगारप्रकाश की पाडुलिपि में दडीकृत द्विसधानकाव्य का दो स्थलो पर उल्लेख मिलता है। पर अभी तक द्विसधानकाव्य देखने में नही आया है। एक श्लोक के आधार पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि यह काव्य दडी ने ही बनाया था।

अवन्तिसुन्दरी-कथा के प्रकाशित होने से यह समस्या बहुत-कुछ सुलझ गई है। आज अधिकाश विद्वान् यह मानने लगे हैं कि दडी की तृतीय कृति अवन्तिसुन्दरी-कथा ही है। अवन्तिसुन्दरी-कथा एक प्रकार से दशकुमार-चरित की पूर्वपीठिका की कथा का ही विस्तृत रूप प्रतीत होता है ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। इसलिए श्री हरिहर शास्त्री तथा डा० डे ने इसके प्रकाशित होने पर इसको दडी की कृति मानने में शका की है। इस ग्रथ का अनुशीलन करने से दडी की शैली के विषय मे जो आभास मिलता है वह परिवर्द्धन तथा परिवर्तन तो ससार का एक शाश्वत नियम है। यह तो केवल कृति मात्र है। इसमें यदि विस्तृत रूप या परिवर्द्धन दृष्टिगत होता है तो कोई आश्चर्य की वात नही। श्री पी० वी० काने का मत भी यही है कि अवन्तिसुन्दरी-कथा दडी की तृतीय कृति मानी जा सकती है।

इस प्रकार अधिकाश विद्वानो का मत यही प्रतीत होता है कि काव्या-दर्श, दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी-कथा ही दडी के तीन ग्रथ हैं।

इन तीनो ग्रथो के अध्ययन मे विदित होता है कि दडी केवल आल-कारिक ही नही थे प्रत्युत काव्यकलामर्मज्ञ तथा गद्यशैली-निर्माता भी थे। उनके दशकुमारचरित और अवन्तिसुन्दरी-कथा सस्कृत गद्य के इति-हास में अपनी चारुता, मनोरजकता तथा सरसता के लिए चिरस्मरणीय रहेगे। काव्यादर्श के समस्त उदाहरण दडी की निजी रचनाएँ है। इन पद्यो में सरसता तथा चारुता पर्याप्त, मात्रा में विद्यमान है। अत आलकारिक

दडी के समान ही कवि दडी का स्थान भी बहुत ऊँचा है। इसीलिए प्राचीन आलोचको ने वाल्मीकि और व्यास जैसे मान्य कवियो की उच्च श्रेणी में दडी को स्थान दिया है। प्रशसापरक सूक्ति होने पर भी इसमें कुछ-न-कुछ तथ्य तो है ही।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ॥

दंडी की काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ

आचार्य दडी के काव्यादर्श का आद्योपान्त अध्ययन करने से उनकी काव्य सम्बन्धी मान्यताओ का परिचय सक्षेप में इस प्रकार मिलता है।

(१) अलकार

दडी ने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में निम्नलिखित दो श्लोक लिखे हैं।

१ काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥२।१॥

२ यच्चसन्ध्यङ्गवृत्यङ्ग लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥२।३६७॥

काव्य के शोभा विधायक धर्मों को अलकार कहते हैं। उनमें तो आज भी नई-नई कल्पनाएँ बढाई जा रही है। इससे उनका पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है ॥१॥

अन्य ग्रथो में जो सधि और उसके अग वृत्ति और उसके अग, लक्षण आदि का विशेष वर्णन है, उन सबको हम (दडी) अलकार के ही अतर्गत मानते हैं ॥।२॥

उपर्युक्त कथन इस बात की पुष्टि करता है कि दडी ने अलकार शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। शब्दालकारो से अर्थालकारो को कम महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रथम परिच्छेद में केवल अनुप्रास का ही वर्णन आता है। तृतीय परिच्छेद के अन्तर्गत ७७ श्लोको में यमक का

र्णन किया गया है। यमक शब्दालकार होने पर भी दडी के विवेचन में इतना यापक हुआ यह आश्चर्य का विषय है। कदाचित् यमक का चमत्कार ही इडी को मोहने वाला सिद्ध हुआ होगा। यही पर गोमूत्रिका आदि कुछ अल-कारो का भी वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में ३५ अर्थालकारो का एक-साथ नाम गिनाकर क्रमश उनका विवेचन किया गया है।

दडी के समय तक अलकारो की सख्या में वृद्धि हो चुकी थी तथा नित्य नवीन अलकारो की सृष्टि हो रही थी। पहले तो दडी ने ३५ अलकारो के नाम गिना दिये हैं और फिर क्रमश एक-एक अलकार को लेकर उसकी परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसके भेदोपभेदो का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया है। दडी का यह विस्तार कई स्थानो पर तो बहुत असगत एव अनु-पयुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि इन अलकारो के उदाहरण अत्यन्त सरस हैं जोकि दडी की कवित्व-शक्ति एव परिश्रम के पूर्ण परिचायक हैं। परन्तु फिर भी अलकारो का अनावश्यक विस्तार पाठक को थका देता है। यही दडी के अलकार-निरूपण का सबसे बडा दोष है।

द्वितीय परिच्छेद के चतुर्थ, पचम, षष्ठ तथा सप्तम श्लोक में ३५ अल-कार के नाम गिनाये हैं जिनमें से उपमा, रूपक, दीपक तथा आक्षेप का तो बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। उपमा की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए इसके ३२ भेदो का उदाहरण-सहित वर्णन है। इन भेदो में से विप-र्यासोपमा, अन्योन्योपमा, मोहोपमा, सशयोपमा, प्रशसोपमा, चटूपमा, असाधारणोपमा तथा अभूतोपमा का क्रमश प्रतीप उपमेयोपमा, भ्रान्ति-मान, सन्देह, प्रतीप, विशेषोक्ति, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षा में अन्तर्भाव हो जाता है। यह उचित ही है। जो-कुछ बाकी बचते हैं वे वस्तुत अलकार नही। यथा नियमोपमा, अनियमोपमा, अद्भुतोपमा आदि खैंचातानी करके ही इन्हे अलकारो में रखा गया है। उपमा के समान ही आक्षेप का हाल है। इस अलकार का भी बहुत विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके २५ के आसपास भेद किये गये हैं जिनमें दो-चार के सिवाय सब ही निरर्थक प्रतीत होते हैं।

रूपक तथा दीपक का भी दडी ने यथासाध्य विस्तार दिखाया है। इन अलकारो के कुछ भेद इस प्रकार के भी हैं जिनका बनाना दडी की बुद्धि का ही काम था। इस द्वितीय परिच्छेद में ये चार अलकार तो ऐसे हैं जिनका बहुत भेदोपभेदो सहित वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य अलकारो में भी यही विस्तार की प्रवृत्ति लक्षित होती है। दडी ने पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित अलकारो का परिष्कार कैसे किया है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन्होंने ३५ अर्थालकारो का वर्णन ३६८ श्लोको में किया है।

तृतीय परिच्छेद में यमक अलकार की छटा दृष्टिगोचर होती है। इस अलकार का ७७ श्लोको में वर्णन किया गया है। शब्दालकारो में यमक पर ही दडी ने विशेष बल दिया है। आगे कुछ चित्रालकारो, प्रहेलिका आदि का वर्णन है। इन सब अलकारो के वर्णन में बुद्धि के चमत्कार की भावना का प्राधान्य ही लक्षित होता है। वस्तुत' यदि देखा जाय तो सभी दृष्टियो से अलकारो का यह विशदीकरण बहुत ही अस्वाभाविक, अनावश्यक एव अनुपयुक्त है।

(२) गद्य-भेद

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में गद्य-विषयक भेदो का उल्लेख है। गद्य के दो भेदो कथा और आख्यायिका का वर्णन करते हुए आपने लिखा है

तत् कथाख्यायिकेत्येका जाति सज्ञाद्वयाङ्किता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातय ॥

—परि० १ श्लोक २८

कथा और आख्यायिका एक जाति की हैं, केवल नाम दो हैं। इससे प्रतीत होता है कि दडी के मतानुसार इनमें तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नही जबकि भामह ने दोनो को परस्पर भिन्न माना है।

(३) रीति और गुण

आधुनिक युग के विद्वानो की धारणा है कि दडी अलकार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापको में से होते हुए भी रीति-सम्प्रदाय की नीव डालनेवाले थे।

जिस पर आगे चलकर आचार्य वामन ने रीति-रूपी भव्य भवन का निर्माण किया।

दडी की तीसरी मान्यता रीति-विषयक है। इसका प्रथम परिच्छेद में वहुत ही विस्तार से वर्णन किया गया है। दडी ने रीति के लिए 'मार्ग' शव्द का प्रयोग करते हुए लिखा है—

अस्त्यनेको गिरा मार्ग. सूक्ष्म भेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥१।४०॥

परस्पर सूक्ष्मभेदयुक्त वाणी के अनेक मार्ग हैं। उनमें से स्पष्ट अन्तर वाले वैदर्भ और गौड मार्गों का वर्णन किया जाता है।

दडी के समय तक वैदर्भ तथा गौड मार्ग कवियो में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे, जिनका लोक-परम्परानुसार दडी ने भी अस्तित्व स्वीकार किया। इनके अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी आपने उनमें एक विशेषता यह रक्खी कि इन मार्गों का गुणो के साथ सम्वन्ध स्थापित किया।

श्लेष प्रसाद. समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज. कान्ति समाधयः ॥१।४१॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा· स्मृताः।
एषा विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥१।४२॥

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण स्वरूप स्वीकार किये गये है। प्राय· इनका विपर्यय गौड मार्ग मे लक्षित होता है।

यद्यपि वाणभट्ट ने पहिले ही इसका सकेत कर दिया था पर दडी ने उसे नियमवद्ध कर दिया। भरत आदि प्राचीन आचार्यो ने गुणो को स्वतन्त्र स्थान देकर उन्हे काव्यगुण के रूप में प्रतिष्ठित किया था। दडी ने गुणो को स्वतन्त्र स्थान न देकर मार्गो के साथ इनका अभिन्न सम्वन्ध सुस्थिर कर दिया। इस मान्यता को स्थापित करते हुए भी आपने गुणो की वही परम्परागत सख्या स्वीकार की।

ग्रलकार-विषयक ग्रथो पर पडा, उतना शायद सस्कृत में लिखित ग्रथो पर नही पडा। सिंहली भाषा में लिखित उपरोक्त ग्रथ का लेखक तो स्पष्ट रूप से दडी को ग्रपने उपजीव्य ग्रथकारो में मानता है। इस ग्रथ पर दडी के काव्यादर्श की छाप है। कन्नड भाषा का कविराजमार्ग तो दडी के प्रभाव से ग्रोत-प्रोत ही नही प्रत्युत उसके ग्रलकारो के उदाहरण दडी के श्लोको के उदाहरणो के नि सदिग्ध ग्रनुवाद हैं। सम्भवत तिब्बती भाषा में भी काव्यादर्श का ग्रनुवाद हुग्रा था।

इसके ग्रतिरिक्त हिंदी-साहित्य के इतिहास पर भी यदि विहगम दृष्टि डाली जाय तो रीतिकाल के ग्रन्तर्गत एक ऐसे ग्राचार्य तथा कवि के दर्शन होते हैं जिन्होने ग्राचार्य दडी को पूर्णत ग्रपनाया। वे हैं केशवदास। इनके ग्रथ कविप्रिया के ग्रनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि दडी के काव्या-दर्श को ग्रपनाते हुए उनके प्रदर्शित पदचिह्नो पर चलते हुए केशव ने हिन्दी में ग्राचार्य एव कवि का प्रतिष्ठित एव महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार केशव के माध्यम से ग्राज भी दडी का ग्रक्षुण्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह तो हुई परवर्ती ग्राचार्यों पर दडी के प्रभाव की बात। ग्रब थोडा इस पर भी विचार कर लें कि काव्यादर्श का सस्कृत-साहित्य में क्या स्थान है।

प्रभाव के ग्रतिरिक्त एक ग्रौर वस्तु है ग्रौर वह है लोकप्रियता, जिसके द्वारा हम पूर्ण रूप से यह जान सकते हे कि किसी भी लेखक ग्रथवा उसकी कृति का तत्कालीन साहित्यिक समाज में क्या स्थान रहा होगा। इसके जानने के लिए ग्रन्य मुख्य उपायो के ग्रतिरिक्त एक प्रमुख उपाय उस ग्रथ की टीका है जोकि लोकप्रियता की पूर्ण परिचायक है। प्रस्तुत ग्रथ की टीकाग्रो की सख्याग्रो से विदित होता है कि इनका ग्रथ ग्रत्यन्त लोकप्रिय रहा। इस पर ग्रनेक टीकाएँ लिखी गईं। काव्यादर्श की सबसे प्राचीन टीका तरुणवाचस्पति-विरचित है। ग्रन्य टीकाग्रो में ग्रज्ञात रचयिता की हृदयगमा, हरिनाथ की मार्जन टीका, कृष्णकिंकर तर्कवागीश की काव्य-तत्त्व-विवेचक कौमुदी, वादिजघाल की श्रुतानुपालिनी ग्रौर जगन्नाथ की वैमत्य-विधा-

यिनी आदि टीकाएँ उल्लेखनीय हैं। इन टीकाओ के अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रथो में काव्यादर्श के अनेक उद्धरण उद्धृत किये गये है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काव्यादर्श सस्कृत-साहित्य में प्रारभ से ही उच्चकोटि का ग्रथ माना जाता रहा है। आज भी आलकारिको तथा कवियो द्वारा काव्यादर्श वहुत ही आदर की दृष्टि से देखा जाता है। विद्वानो द्वारा इसका पठन-पाठन एव मनन वडे मनोयोग से किया जाता है। सस्कृत साहित्य में भरत, भामह आदि के ग्रथो में दडी के काव्यादर्श का भी अपना विशिष्ट स्थान है जिसके कारण दडी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। पाठ्यग्रथ की दृष्टि से आज भी इस ग्रथ का प्रचार अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रथो से कही अधिक है। इसकी उपयोगिता को देखकर ही हमने इसके हिंदी अनुवाद का प्रयास किया है।

हिन्दी अनुवाद

काव्यादर्श का हिन्दी अनुवाद सवत् १९८८ में श्री व्रजरत्नदास जी ने प्रकाशित कराया था। उस अनुवाद से हिन्दी-प्रेमी पाठको का वहुत लाभ हुआ किन्तु अनुवादकर्ता के समक्ष कदाचित् शव्दानुवाद मात्र प्रस्तुत करने की भावना थी, फलत अनेक स्थलो पर पूर्वापर सम्वन्ध से अभिव्यक्त होने वाले आशय स्पष्ट नही हो सके। हमने प्रस्तुत अनुवाद में मूल की सतर्कता के साथ रक्षा करते हुए टिप्पणियो में दुरूह शव्दो की व्याख्या तथा पूर्वापर-सम्वन्ध युक्त प्रसगो के उद्घाटन की चेष्टा की है। आवश्यक स्थलो पर अन्य आचार्यो के साथ तुलनात्मक सकेत भी दे दिये हैं। इस प्रकार सामान्य अध्येता को अनुवाद के साथ अन्य उपयोगी सामग्री भी सुलभ हो सकेगी। मात्र शव्दानुवाद से जो भ्रान्तियाँ सम्भव है उनका हमारी इस परिपाटी द्वारा निराकरण हो सकेगा। हमने अपने अनुवाद में अँग्रेजी तथा सस्कृत की अनेक टीकाओ से सहायता ली है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

इस अनुवाद की प्रेरणा मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागा-

अलकार-विषयक ग्रथो पर पडा, उतना शायद सस्कृत में लिखित ग्रथो पर नही पडा। सिंहली भाषा में लिखित उपरोक्त ग्रथ का लेखक तो स्पष्ट रूप से दडी को अपने उपजीव्य ग्रथकारो में मानता है। इस ग्रथ पर दडी के काव्यादर्श की छाप है। कन्नड भाषा का कविराजमार्ग तो दडी के प्रभाव से ओत-प्रोत ही नही प्रत्युत उसके अलकारो के उदाहरण दडी के श्लोको के उदाहरणो के नि सदिग्ध अनुवाद हैं। सम्भवत तिब्बती भाषा में भी काव्यादर्श का अनुवाद हुआ था।

इसके अतिरिक्त हिंदी-साहित्य के इतिहास पर भी यदि विहगम दृष्टि डाली जाय तो रीतिकाल के अन्तर्गत एक ऐसे आचार्य तथा कवि के दर्शन होते हैं जिन्होने आचार्य दडी को पूर्णत अपनाया। वे हैं केशवदास। इनके ग्रथ कविप्रिया के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि दडी के काव्यादर्श को अपनाते हुए उनके प्रदर्शित पदचिह्नो पर चलते हुए केशव ने हिन्दी में आचार्य एव कवि का प्रतिष्ठित एव महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार केशव के माध्यम से आज भी दडी का अक्षुण्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह तो हुई परवर्ती आचार्यों पर दडी के प्रभाव की बात। अब थोडा इस पर भी विचार कर लें कि काव्यादर्श का सस्कृत-साहित्य में क्या स्थान है।

प्रभाव के अतिरिक्त एक और वस्तु है और वह है लोकप्रियता, जिसके द्वारा हम पूर्ण रूप से यह जान सकते हैं कि किसी भी लेखक अथवा उसकी कृति का तत्कालीन साहित्यिक समाज में क्या स्थान रहा होगा। इसके जानने के लिए अन्य मुख्य उपायो के अतिरिक्त एक प्रमुख उपाय उस ग्रथ की टीका है जोकि लोकप्रियता की पूर्ण परिचायक है। प्रस्तुत ग्रथ की टीकाओ की सख्याओ से विदित होता है कि इनका ग्रथ अत्यन्त लोकप्रिय रहा। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। काव्यादर्श की सबसे प्राचीन टीका तरुणवाचस्पति-विरचित है। अन्य टीकाओ में अज्ञात रचयिता की हृदयगमा, हरिनाथ की मार्जन टीका, कृष्णकिंकर तर्कवागीश की काव्य-तत्त्व-विवेचक कौमुदी, वादिजघाल की श्रुतानुपालिनी और जगन्नाथ की वैमत्य-विधा-

यिनी आदि टीकाएँ उल्लेखनीय है। इन टीकाओ के अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रथो में काव्यादर्श के अनेक उद्धरण उद्धृत किये गये है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काव्यादर्श सस्कृत-साहित्य में प्रारभ से ही उच्चकोटि का ग्रथ माना जाता रहा है। आज भी आलकारिको तथा कवियो द्वारा काव्यादर्श बहुत ही आदर की दृष्टि से देखा जाता है। विद्वानो द्वारा इसका पठन-पाठन एव मनन बडे मनोयोग से किया जाता है। सस्कृत साहित्य में भरत, भामह आदि के ग्रथो में दडी के काव्यादर्श का भी अपना विशिष्ट स्थान है जिसके कारण दडी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। पाठ्यग्रथ की दृष्टि से आज भी इस ग्रथ का प्रचार अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रथो से कही अधिक है। इसकी उपयोगिता को देखकर ही हमने इसके हिंदी अनुवाद का प्रयास किया है।

हिन्दी अनुवाद

काव्यादर्श का हिन्दी अनुवाद सवत् १९८८ में श्री व्रजरत्नदास जी ने प्रकाशित कराया था। उस अनुवाद से हिन्दी-प्रेमी पाठको का बहुत लाभ हुआ किन्तु अनुवादकर्ता के समक्ष कदाचित् शब्दानुवाद मात्र प्रस्तुत करने की भावना थी, फलत अनेक स्थलो पर पूर्वापर सम्बन्ध से अभिव्यक्त होने वाले आशय स्पष्ट नही हो सके। हमने प्रस्तुत अनुवाद में मूल की सतर्कता के साथ रक्षा करते हुए टिप्पणियो में दुरूह शब्दो की व्याख्या तथा पूर्वापर-सम्बन्ध युक्त प्रसगो के उद्घाटन की चेष्टा की है। आवश्यक स्थलो पर अन्य आचार्यों के साथ तुलनात्मक सकेत भी दे दिये है। इस प्रकार सामान्य अध्येता को अनुवाद के साथ अन्य उपयोगी सामग्री भी सुलभ हो सकेगी। मात्र शब्दानुवाद से जो भ्रान्तियाँ सम्भव है उनका हमारी इस परिपाटी द्वारा निराकरण हो सकेगा। हमने अपने अनुवाद में अँग्रेजी तथा सस्कृत की अनेक टीकाओ से सहायता ली है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हम अपना कर्तव्य समझते है।

इस अनुवाद की प्रेरणा मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागा-

घ्यक्ष गुरुवर्य डा० नगेन्द्र द्वारा प्राप्त हुई थी । अनुवाद कार्य करते समय जब भी मैंने किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव किया तभी श्रद्धेय डाक्टर साहब ने मेरा पथ-प्रदर्शन किया। एतदर्थ मैं आदरणीय डाक्टर साहब के श्री चरणो में श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

श्रद्धेय गुरुवर डा० विजयेन्द्र स्नातक जी ने अपना अमूल्य समय देकर इस अनुवाद को आद्योपान्त पढा और शुद्ध किया है। उनकी इस कृपा के लिए किसी प्रकार की शाब्दिक कृतज्ञता प्रकट करना कदाचित् उपयुक्त न होगा। उनकी शिष्य-वत्सलता के बल पर ही मैं यह दुरूह कार्य करने का साहस कर सका हूँ।

आर्यसमाज,
बिरला लाइन्स, दिल्ली
चैत्र पूर्णिमा २०१५

—रणवीर सिंह

काव्यादर्श:

प्रथम परिच्छेद

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥१॥

अर्थ—ब्रह्मा के मुख रूपी कमल-वन में हंसी के समान जो सरस्वती (श्रुति रूप में) विचरण करती है वह श्वेतवर्णा, वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती सर्वदा मेरे मानस में विहार करे ।

टिप्पणी—यह मंगलाचरण का श्लोक है । पुरातन भारतीय शास्त्रों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन आचार्यों तथा कवियों की यह परिपाटी रही है कि वे ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए प्रारम्भ मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती आदि देवी-देवताओ की स्तुति करते हैं । इस ग्रंथ में भी उसी शैली के अनुसार कवि ने सरस्वती की वन्दना और ब्रह्मा का स्मरण किया है ।

'मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' —महाभाष्य

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च ।
यथासामर्थ्यमस्माभि क्रियते काव्यलक्षणम् ॥२॥

अर्थ—प्राचीन (भरत आदि) कवियो के काव्यादि ग्रंथो का सार ग्रहण करके तथा (महाकाव्य आदि में प्रयुक्त) प्रयोगों को देखकर (अनुशीलन करके) हम आचार्य दण्डी अपनी शक्ति के अनुसार काव्य का लक्षण करते हैं ।

टिप्पणी—लक्षण के बिना किसी वस्तु का स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता, अत लक्षण की अनिवार्यता होती है । अन्य वस्तुओं से पृथक् करके जो एक वस्तु के स्वरूप का बोध कराकर व्यवहार की क्षमता प्रदान करता है, लक्षण कहलाता है ।

लक्ष्यते ऽनेनेति लक्षणम् ।
व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम् ।

इह शिष्टानुशिष्टाना शिष्टानामपि सर्वथा ।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥३॥

अर्थ—इस ससार में विद्वानो से (प्रकृति-प्रत्यय के भेद द्वारा) परिष्कृत की हुई तथा (जाति, देश आदि के विभाग से) प्रचलित भापाओ की सहायता से ही मनुष्यो का व्यवहार चलता है।

टिप्पणी—

लोकयात्रा—लोक-व्यवहार के निमित्त प्राचीन आचार्यों ने तीन प्रकार की भापाओ का प्रचलन स्वीकार किया है। उत्तम पुरुष सस्कृत वाणी का, मध्यम पुरुष साधु भाषा का तथा अधम पुरुष नीच भाषा का प्रयोग करते हैं।

इदमन्धतम कृत्स्न जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वय ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥४॥

अर्थ—यदि शब्द नाम वाला वाङ्मय रूपीप्रकाश ससार-भर में व्याप्त होकर दीप्तिमान न करता तो सम्पूर्ण तीनो लोक सघन अधकार से युक्त होते।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के अभाव में समस्त ससार तिमिराच्छन्न रहता है—किसी पदार्थ का बोध नही होता, उसी प्रकार शब्द रूपी वाङ्मय के आलोक के अभाव में तीनो लोक भावो के आदान-प्रदान रूपी कार्य-व्यापार से वचित रहते हैं।

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वय पश्य नश्यति ॥५॥

अर्थ—पूर्वकालीन (मनु इक्ष्वाकु आदि) राजाओ का यश रूपी बिम्ब (कविवृन्द द्वारा रचित काव्य-प्रबन्धादि) वाङ्मय रूपी दर्पण को प्राप्त करके, उन राजाओ का आज अस्तित्व न होने पर भी नाश को प्राप्त नही होता अर्थात् उनका यशोबिम्ब आज भी काव्य के माध्यम से प्रतिबिम्बित हो रहा है। (हे शिष्य,) तुम यह स्वय देख लो।

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥६॥

अर्थ—भली प्रकार प्रयुक्त की गई (ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण तथा अलंकारों से युक्त, दोष-रहित) वाणी को विद्वानों ने कामना पूर्ण करने वाली कामधेनु कहा है। किन्तु वही वाणी वक्ता द्वारा दोषयुक्त प्रयुक्त होने पर वक्ता में वृषत्व अथवा मौर्ख्यत्व को सूचित करती है।

टिप्पणी—गौर्गौः—वाणी, गाय

वाणी की महिमा महर्षि पातंजलि ने कामधेनु के समान ठीक ही की है।

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।"

पातंजल महाभाष्य—प्रथम आह्निक।

एक भी शब्द यदि सम्यक् रीति से जाना हुआ हो तथा सुप्रयुक्त किया गया हो तो वह इस लोक में और परलोक में कामधुक् (मनोरथ-पूर्ण करने वाला) होता है।

गोत्व—यदि वक्ता 'गौः' शब्द प्रयुक्त करेगा तो उसका अर्थ 'गाय' होगा और इसी अर्थ में यदि 'गो' शब्द प्रयुक्त करेगा जो कि अशुद्ध है तो उसका अर्थ बैल होगा। अतः हम प्रयोक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द से ही उसके पांडित्य अथवा मौर्ख्यत्व का पता लगा सकते हैं।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥७॥

अर्थ—(मौर्ख्यत्व न सूचित हो) इस कारण काव्य में स्वल्प दोष की भी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, (क्योंकि) अत्यन्त मनोहर शरीर भी केवल एक श्वेत कुष्ठ के चिह्न से ही सौभाग्यविहीन हो जाता है।

टिप्पणी—दोष की परिभाषा

"रसापकर्षका दोषाः" सा० द० ७।१

"मुख्यार्थ-हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः"—काव्यप्रकाश—७।१

रसके अपकर्ष अर्थात् रस की हीनता या विच्छेद के जो कारण हैं वे दोष कहलाते हैं।

दोष वह है जिसे मुख्य अर्थ का विघात अथवा अपकर्ष कहा जाता है। यह दोष उस रसादिरूप अर्थ का अपकर्ष है जो काव्य का मुख्य अर्थ है।

जिन शब्दो से रस-परिपाक में व्याघात होता है उन्हे दोप कहा जाता है।

"दूषयति काव्यमिति दोष ।"

"दोषास्तस्यापकर्षका ॥" सा० द० १।२

जो काव्य को दूषित करे वह दोप है। काव्य के अपकर्षको को दोष कहते हैं।

"काव्यापकर्षका दोषास्ते पुन पञ्चधा मता ।

पदपदांशवाक्यार्थरसानां दूषणेन हि ॥ सा० द० ७।१

काव्य के अपकर्षको को दोष कहते हैं—पद, पदाश, वाक्य, अर्थ और रस में रहने के कारण दोष पाँच प्रकार के माने गये हैं।

[दोषो के विशेष अध्ययन के लिए तृतीय परिच्छेद के १२६वें श्लोक की टिप्पणी देखिए।]

गुणदोषानशास्त्रज्ञ कथ विभजते जन ।

किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥८॥

अर्थ—शास्त्र को न जानने वाला मनुष्य काव्य के गुणो तथा दोषो को किस प्रकार जान सकता है ?—अर्थात् नही जान सकता। सुन्दर और असुन्दर का रूप-भेद विचार करने का अन्धे मनुष्य को क्या अधिकार है ?

भावार्थ—काव्य के गुण-दोषो की परख के लिए शास्त्र को चक्षुवत् स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार नेत्र-विहीन मनुष्य रूप-सौन्दर्य परखने में असमर्थ है, उसी प्रकार शास्त्र न जानने वाला मनुष्य भी काव्यानुशीलन करने में असमर्थ है।

टिप्पणी—गुण :

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो गुणाः।

"यया माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा"—विश्वनाथ ८।१

देह में आत्मा के समान काव्य में अङ्गित्व अर्थात् प्रधानता को प्राप्त जो रस उसके धर्म (माधुर्यादिक) उसी प्रकार गुण कहलाते हैं जैसे आत्मा के शौर्य आदि को गुण कहा जाता है।

प्राचीन आचार्यों ने दस शब्द के गुण और दस अर्थ के गुण माने हैं। उनको पृथक् मानने की आवश्यकता नही, ऐसा साहित्यदर्पणकार का मत है। [गुणो के विशेष अध्ययन के लिए ४१वें श्लोक की टिप्पणी देखिये।]

अत. प्रजाना व्युत्पत्तिमभिसधाय सूरय. ।
वाचा विचित्रमार्गाणा निववन्धु क्रियाविधिम् ॥६॥

अर्थ—अत (भरत आदि) प्राचीन विद्वानो ने जनसाधारण की ज्ञान-वृद्धि को लक्ष्य करके (काव्य-प्रवध आदि में व्यवहृत) विविध प्रकार की वैदर्भी, गौडी, पाचाली, लाटी आदि शैलियो से युक्त काव्यों की रचना के विविध प्रकारो का विधान किया है।

साहित्यदर्पणकार के अनुसार रीति की परिभाषा इस प्रकार है :

"पदसघटना रीतिरगसस्याविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुन स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाचाली लाटिका तथा ॥" साहित्यदर्पण ६।१

पदो के मेल या सगठन को रीति कहते है। वह अगसस्थान की तरह मानी जाती है। यह काव्य के आत्मभूत रस, भाव आदि की उपकारक होती है। वह रीति ४ प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी।

[रीतियो के विशेष अध्ययन के लिए ४०वें श्लोक की टिप्पणी देखिए।]

तै शरीर च काव्यानामलकाराश्च दर्शिता ।
शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥१०॥

अर्थ—प्राचीन आचार्यों ने काव्यो के शरीर तथा अलकारो का दिग्दर्शन कराया है। इष्ट (अभीप्सित अथवा मनोरम) अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यग्य

आदि) से विभूषित पद-समूह ही काव्य-शरीर है।

टिप्पणी—इष्टार्थ

इष्टा अलौकिकचमत्कारित्वेन सहृदयमनोरमा अर्था।

गुणालकारयुक्तौ शब्दार्थौ—वामन

अदोषौ इति अधिकविशेषणयुक्तौ तौ—मम्मट

रसवत्	भोज
रीति	वाग्भट्ट
वृत्ति	पीयूषवर्ष

रसादिमद्वाक्य काव्यम्—विश्वनाथ

रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द —	जगन्नाथ
ध्वनि	आनन्दवर्धन

विशेष—काव्य-शरीर की स्थिति आचार्यों ने अनेक शैलियो से वर्णित की है।

उक्त हि—काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, दोषा काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसस्थानविशेषवत्, अलकारा: कटककुण्डलादिवत्, इति।

कहा गया है—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादिक आत्मा है। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अग-रचना के सदृश और उपमादिक अलकार कटक-कुण्डलादि के तुल्य होते हैं। इसमें काव्य को पुरुष के समान माना है। और पुरुषो में जैसे शरीर, आत्मा, गुण, दोष अलकारादिक होते हैं इसी प्रकार काव्य में भी बताये हैं। —साहित्यदर्पण–प्रथम परिच्छेद

गुणा शौर्यादिवत् अलकारा. कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूत रसमुत्कर्षयन्त काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते।

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद १।३।

गुण, अलकार और रीतियाँ काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते हैं।

जैसे शौर्यादि गुण, कटक-कुण्डलादि अलकार और अग-रचनादिक मनुष्य के शरीर का उत्कर्ष सूचन करते हुए, उसके आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते है इसी प्रकार काव्य में भी माधुर्यादि गुण, उपमादिक अलकार और वैदर्भी आदिक रीतियां शरीरस्थानीय शब्द और अर्थ का सूचन करते हुए आत्मस्थानीय रस का उत्कर्ष सूचित करते है और जैसे शौर्यादिक मनुष्य के उत्कर्ष कहे जाते हैं इसी प्रकार माधुर्यादिक काव्य के उत्कर्ष माने जाते है।

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादाद्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्या।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यमाविवेश ॥"
—श्रुति ३-८-१०-३ ऋग्वेद।

पद्य गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा ॥११॥

अर्थ—(प्राचीन आचार्यो ने) काव्य-शरीर के छन्दोबद्ध, (पद्य) छन्द रहित (गद्य) तथा पद्य-गद्य-मिश्रित (चम्पू) ये तीन विभाग किये हैं। पद्य में चार चरण होते हैं और वह जाति छन्द व वृत्त छन्द के भेद से दो प्रकार का है।

टिप्पणी—(पद्य)

"छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यांतु युग्मक सदानितक त्रिभिरिष्यते ॥
कलापक चतुर्भिश्च पचाभि कुलक मतम्।"
—विश्वनाथ सा० द० ६।३१४

छन्दो में लिखे काव्यो को पद्य कहते है। वह यदि मुक्त—दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो तो मुक्तक और यदि दो श्लोको में वाक्यपूर्ति होती हो तो युग्मक कहलाता है। एवं तीन पद्यो का सन्दानितक अथवा विशेषक, चार का कलापक और पांच अथवा इनसे अधिक का कुलक होता है।

गद्य—गद्य चार प्रकार का होता है—

"वृत्तगन्धोज्झित गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्राय चूर्णक च चतुर्विधम् ॥" सा०द० ७।३३०

जो वृत्त (छन्द) के गन्ध से रहित हा उसे गद्य कहते हैं । गद्य चार प्रकार का होता है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक ।

गद्यपद्यमय

"गद्यपद्यमयं काव्य चम्पूरित्यभिधीयते ।
गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ॥
करम्भक तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥"

सा० द० ७।३३६, ३३७

जिसमें गद्य और पद्य दोनो हो उस काव्य को चम्पू कहते है। गद्य-पद्यमय राजस्तुति का नाम विरुद है। विविध भाषाओ से निर्मित करम्भक कहलाता है।

**छन्दोविचित्या सकलस्तत्प्रपचो निदर्शित ।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणा गम्भीर काव्य-सागरम् ॥१२॥**

अर्थ—पद्य के अन्तर्गत आने वाले जाति वृत्त आदि छन्दो का वर्णन 'छन्दोविचिति' ग्रथ में सविस्तार किया गया है । वह छद-विद्या, गम्भीर काव्य सागर को तैरने की इच्छा रखने वालो के लिए नाव (के समान) है।

टिप्पणी—प्राय काव्यो की छन्दोबद्ध रचना होती आई है। अत इनको पढ़ने की इच्छा रखने वालो के लिए छन्द के विषय का ज्ञान होना आवश्यक है।

छन्दोविचिति—कुछ विद्वानो का विचार है कि इस ग्रथ की रचना स्वय दडी ने की । **'अय ग्रन्थो दण्डिना कृत इति जनश्रुति'**—सा० द०। इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानो का यह मत है कि यह ग्रथ दडी द्वारा रचित नही। इस विषय पर प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका भी द्रष्टव्य है।

**मुक्तक कुलक कोश सघात इति तादृश ।
सर्गबन्धाशरूपत्वादनुक्त पद्यविस्तर. ॥१३॥**

अर्थ—सर्ग-बन्ध महाकाव्य के मुक्तक, कुलक, कोश, सघात आदि अवयव मात्र होने के कारण इनका विस्तृत पद्य-विस्तार नही किया गया है।

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तु-निर्देशो वापि तन्मुखम् ॥१४॥

अर्थ—अनेक सर्गों में जहाँ कथा का वर्णन हो वह महाकाव्य कहलाता है। उसका लक्षण यह है कि वह आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु-निर्देश द्वारा आरम्भ होता है।

टिप्पणी–उदाहरणार्थ 'कीचकवध' का आरम्भ कवि ने आशीर्वाद से किया है। कालिदास ने 'रघुवंश' का आरम्भ नमस्कार से किया है। माघ द्वारा रचित 'शिशुपालवध' का वस्तुनिर्देश द्वारा आरम्भ किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्यो का आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार और कथावस्तु के निर्देश से होता है।

इतिहास-कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥१५॥

अर्थ—महाकाव्य की रचना ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी उत्कृष्ट कथा के आधार पर होनी चाहिए। वह काव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष फलदायक हो। उसका नायक चतुर (बुद्धिमान्) तथा उदात्त उदाराशय वाला होना चाहिए।

टिप्पणी—नायक लक्षण—तत्रैको नायक सूर ।

इसमें एक देवता या सद्वंशक्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हो—नायक होता है। दाता, कृतज्ञ, पडित, कुलीन, लक्ष्मीवान् लोगो के अनुराग का पात्र, रूप, यौवन और उत्साह से युक्त तेजस्वी, चतुर और सुशील पुरुष काव्यो में नायक होता है।

"सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वित ।" सा० द० ६।३१५

"त्यागी कृती कुलीन सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥" सा०द० ३।३०

चार प्रकार के नायक बताये गये है जो इस प्रकार है—

"धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्त प्रथमश्चतुर्भेद ॥

अविकत्थन क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्व ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रत. कथित ॥
मायापर प्रचडश्चपलोऽहकारदर्पभूयिष्ठ ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धत कथित ॥
निश्चिन्तो मृदुरनिश कलापरो धीरललित स्यात् ।
सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीरप्रशान्त स्यात् ॥
एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा ।
एषाञ्च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन ॥
उक्ता नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाष्टौ च ॥

—सा० द० ३।३१–३५,३८

धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त ये नायक के प्रथम चार भेद है ।

अपनी प्रशसा न करने वाला, क्षमायुक्त, अतिगभीर स्वभाव वाला, महासत्त्व अर्थात् हर्ष, शोकादि से अपने स्वभाव को न बदलने वाला, स्थिरप्रकृति, विनय से प्रच्छन्न गर्व रखने वाला और दृढव्रत, अपनी बात का पक्का और आन का पूरा पुरुष धीरोदात्त कहलाता है ।

मायावी, प्रचण्ड, चपल, घमण्डी, शूर अपनी तारीफ के पुल बाँधने वाला नायक धीरोद्धत कहलाता है ।

निश्चिन्त, अतिकोमल स्वभाव, सदा नृत्य गीतादि कलाओ में प्रसक्त नायक धीरललित कहलाता है ।

त्यागी कृती इत्यादिक कहे हुए नायक के सामान्य गुणो से अधिकाश युक्त ब्राह्मणादिक धीरप्रशात कहाता है ।

ये पूर्वोक्त चारो नायक दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ इन चार भेदो में विभक्त होते है, अत प्रत्येक के चार भेद होने से सोलह भेद हुए। इन सोलह प्रकार के नायको के उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन भेद होते है । इस प्रकार नायको के अडतालीस भेद होते हैं ।

कथा के विषय में साहित्यदर्पणकार का मत है—

"इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥"

—सा० द० ६।३१८ ।

कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन-सबंधिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है।

नगरार्णवशैलर्तु-चन्द्रार्कोदय-वर्णनैः ।
उद्यान-सलिलक्रीडा-मधुपानरतोत्सवैः ॥१६॥

अर्थ—नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, उपवन और जल-क्रीडा, मधुपान और प्रेमोत्सव आदि के वर्णनो से अलकृत महाकाव्य होना चाहिए।

टिप्पणी—महाकाव्य में वर्णनीय विषय ये हैं—

"सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥"

सा द ६।३२२।

इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार) पर्वत, ऋतु (छहो), वन, समुद्र आदि का वर्णन होना चाहिए।

विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥१७॥

अर्थ—यह काव्य विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक के जयलाभ आदि के मनोहर प्रसगो से युक्त होना चाहिए।

टिप्पणी—महाकाव्य में वर्णनीय विषय ये हैं :

"सभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय ॥
वर्णनीया यथायोग साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥"

सा. द ६।३२३

सभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, सग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासभव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए।

अलङ्कृतमसक्षिप्त रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैं श्रव्यवृत्तै सुसधिभि ॥१८॥

अर्थ—यह विभिन्न वृत्तान्तो से सुशोभित तथा सविस्तार वर्णन द्वारा हृदयगम होना चाहिए। इसमें रस तथा भावो की लडी जडी हो। इसके सर्ग बहुत लम्बे-लम्बे न हो। सर्गों के छन्द श्रवणीय तथा अच्छी सधियो से युक्त होने चाहिए।

महाकाव्य में निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए—

टिप्पणी—"शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसधय· ॥
एकवृत्तमयं. पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकै ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ॥
नानावृत्तमय क्वापि सर्ग कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया. सूचन भवेत् ॥"
—साहित्यदर्पण ६।३१७।३२०–३२१

शृगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अङ्गी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-सन्धियाँ रहती हैं। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बडे आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है, किन्तु अन्तिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छन्द का होता है।

कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए।

रस—

"विभावेनानुभावेन व्यक्त. सचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभाव सचेतसाम् ॥" सा द ३।१
"शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका ।
वीभत्साद्भुत इत्यष्टौ रसा शान्तस्तथा मत ॥" सा द. ३।१८२

सहृदय पुरुषो के हृदय में स्थित, वासनारूप रति आदि स्थायिभाव ही विभाव, अनुभाव और सचारीभावो के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं। शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस होते हैं।

भाव—

"निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रिया।" सा द ३।९३

"सचारिण प्रधानानि देवादिविपया रतिः।
उद्वुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥" सा द. ३।२६०

जन्म से निर्विकार चित्त में उद्वुद्धमात्र काम-विकार को भाव कहते हैं। प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि सञ्चारी तथा देवता, गुरु आदि के विपय में अनुराग एव सामग्री के अभाव मे रसरूप को अप्राप्त उद्वुद्ध-मात्र रति हास आदिक स्थायी ये सब भाव कहलाते हैं।

भाव दो प्रकार के होते है—स्थायी भाव और सचारी या व्यभिचारी भाव।

"अविरुद्धा विरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षमा।
आस्वादाङ्कुरकन्दोसौ भाव स्थायीति समत ॥" सा द ३।१७४

अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके वह आस्वाद का मूलभूत भाव 'स्थायी' कहलाता है।

स्थायी भाव ९ हैं—

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ता. शमोपि च ॥" सा द. ३।१७५

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम ये नौ स्थायी भाव होते हैं।

सचारी ३३ हैं—

"विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिशच्च तद्भिदा· ॥" सा द ३।१४०

स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव में उन्मग्न-निमग्न अर्थात्

आविर्भूत-तिरोभूत होकर निर्वेदादिभाव अनुकूलता से व्याप्त होते हैं। अतएव विशेष रीति से आभिमुख्यचरण के कारण इन्हें व्यभिचारी कहते हैं ये सख्या में तेंतीस होते हैं।

सन्धियाँ ५ हैं—

"अन्तरैकार्थसम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति।
मुख प्रतिमुख गर्भो विमर्श उपसहृति ।
इति पचास्यभेदा स्यु क्रमाल्लक्षणमुच्यते ॥" सा द.

एक प्रयोजन में अन्वित अर्थों के अवान्तर सबध को सधि कहते हैं। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये सधियो के पाँच भेद होते हैं।

सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेत लोकरजनम् ।
काव्य कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलकृति ॥१६॥

अर्थ—सर्वत्र सर्गो में भिन्न-भिन्न वृत्तो से युक्त अन्तिम श्लोक होना चाहिए। काव्य लोकरजक तथा अलकारो से अलकृत होना चाहिए। ऐसा काव्य महाप्रलय के बाद भी कल्पो तक स्थिर रहता है।

टिप्पणी—ग्रथकार ने महाकाव्य के दीर्घकाल तक रहने का इसमें आभास दिया। रामायण और महाभारत इसके निदर्शन हैं।

न्यूनमप्यत्र यैं कैश्चिदङ्गै काव्य न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सपत्तिराराधयति तद्विदः ॥२०॥

अर्थ—महाकाव्य के उपरि वर्णित अगो में से किसी की न्यूनता होने पर भी यदि उसमें प्रतिपाद्य विषयवस्तु, रूप, सम्पत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य-रसिको के चित्त को आकृष्ट कर लेता है तो वह काव्य दूषित नही होता।

गुणत प्रागुपन्यस्य नायक तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्ग प्रकृतिसुन्दर ॥२१॥

अर्थ—प्रथम नायक के गुणो का वर्णन करके फिर उसके द्वारा उसके शत्रुओ की पराजय का वर्णन करना चाहिए। इस प्रकार की वर्णन-रीति

स्वभावत मनोहर शैली है।

टिप्पणी—सामान्यत नायक के प्रति पाठक का ध्यान पहले जाना चाहिए। तदुपरान्त उसका परिचय प्रतिनायक या शत्रुओ से होना ठीक है। इस क्रम का जहाँ निर्वाह नही होता, वहा पाठक की मन स्थिति काव्य के अनुरूप नही रहती। अत इस पौर्वापर्य-क्रम का यहाँ सकेत दिया है।

वशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथन च धिनोति न ॥२२॥

अर्थ—शत्रु के भी वश, पराक्रम तथा पाडित्य आदि का वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय-प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना हमें सन्तोषप्रद है।

टिप्पणी—नायक की महिमा को प्रकट करने के लिए प्रतिनायक का ओजस्वी वर्णन करना अत्यावश्यक है। शत्रु यदि साधारण तथा निर्बल है तो नायक का उस पर विजय प्राप्त करना कुछ महत्त्व नही रखता। नायक का उत्कर्ष तभी प्रकट हो सकता है जबकि उसका विरोधी भी करीब-करीब उतना ही बलशाली हो जितना कि नायक। इसी के अनुसार माघ, कुमारसम्भव, रघुवश, किरातार्जुनीय आदि में कृष्ण, कार्तिकेय, राम, रघु, अर्जुन आदि नायको के प्रतिद्वन्द्वी शिशुपाल, तारक, रावण, इन्द्र, शिव आदि भी उन्ही के अनुसार चित्रित किये गये है।

अपादः पदसतानो गद्यमाख्यायिका कथा ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥२३॥

अर्थ—चरण रहित पद-समूह का नाम गद्य है। इसके आख्यायिका तथा कथा ये दो भेद है। इनमें से आख्यायिका का लक्षण इस प्रकार है—

टिप्पणी—"वृत्तगधोज्झित गद्यम्।" सा द ७।३३०

वृत्त (छन्द) के गन्ध से जो रहित हो उसे गद्य कहते है।

नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशसिन. ॥२४॥

अर्थ—केवल नायक द्वारा ही वर्णित आख्यायिका है। पर कथा

नायक या अन्य किमी पात्र द्वारा भी कथित हो सकती है। यथार्थवक्ता नायक का अपने गुणो का स्वय बखान करना यहाँ दोप नही है।

विश्वनाथ लिखते हैं —

"कथाया सरस वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके॥
आदौ पद्यैर्नमस्कार खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।
आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्॥
अस्यामन्यकवीना च वृत्त पद्य क्वचित् क्वचित्।
कथाशाना व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते॥
आर्या वक्त्रापवक्त्राणा छन्दसा येनकेनचित्।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यार्थसूचनम्॥"
—सा. द परि ३३२–३३५

कथा में सरस वस्तु गद्यो द्वारा ही बनायी जाती है। इसमें कही-कही आर्याछन्द और कही वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार और खलादिको का चरित निवद्ध होता है। आख्यायिका-कथा के समान होती है। इसमें कविवशवर्णन होता है और अन्य कवियो का वृत्तान्त तथा गद्य भी कही-कही रहते हैं। यहाँ कथाभागो का नाम 'आश्वास' रखा जाता है। आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में अगली कथा की सूचना दी जाती है।

कथ ।और आख्यायिका शब्द आधुनिक साहित्य में प्राय समानार्थक या पर्यायवाची जैसे प्रसिद्ध हैं। किन्तु आचार्य दडी ने इन दोनो की सीमा-मर्यादा स्पष्ट रूप से पृथक् रखी है।

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वय वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम्॥२५॥
वक्त्र चापरवक्त्र च सोच्छ्वासत्व च भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसगेन कथास्वपि॥२६॥

अर्थ—यदि वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द और उच्छ्वासो का विभाग होना आदि आख्यायिका के द्योतक चिह्न हैं तो ये कथाओ में भी प्रसगवश हो।

आर्यादिवत् प्रवेश. किं न वक्त्रापरवक्त्रयो. ।
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं तत ॥२७॥

अर्थ—कथा में भी प्रसगवश वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दो का आर्या आदि छन्दो के समान प्रवेश क्यो न हो, कथा में लम्भ आदि का भेद देखा हो गया है, उच्छ्वास भी रहे तो क्या हानि है ।

तत् कथाख्यायिकेत्येका जाति सज्ञाद्वयाङ्किता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातय ॥२८॥

अर्थ—इस प्रकार कथा और आख्यायिका, दोनो एक ही जाति की हैं। पर दो विभिन्न नामो से पुकारी गई है। अन्य आख्यान जातियाँ खड कथा, परिकथा आदि भी इन दो के अन्तर्गत ही आ जाती हैं।

टिप्पणी—आचार्य दडी के मतानुसार कादबरी, हर्षचरित, दश-कुमारचरित, पचतन्त्र आदि सभी कथा और आख्यायिका इन दो विभिन्न नामो से पुकारी जाती हुई भी एक जाति के अन्तर्गत ही आती हैं।

कन्याहरणसङ्ग्रामविप्रलम्भोदयादय ।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणा ॥२९॥

अर्थ—कन्या का अपहरण, युद्ध, (विप्रलम्भ, वियोगजन्य प्रेम) उदय (उत्पत्ति या उन्नति) इत्यादि आख्यायिका के लक्षण सर्गग्रथित महाकाव्य के समान ही हैं, अत. ये इनके विशेष गुण नही हैं।

कविभावकृत चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।
मुखमिष्टार्थससिद्धौ किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ॥३०॥

अर्थ—कवि द्वारा अभिप्राय-विशेष से बनाया हुआ चिह्न (लक्षण) कथा से अन्यत्र भी दूषित नही होता। अभीप्सित अर्थ की सिद्धि के लिए विद्वान् किसी भी घटना से अपने काव्य या कथा को प्रारम्भ करने का अधिकार रखते हैं।

टिप्पणी—आधुनिक युग में सघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व से कथा का प्रारम्भ होता है। प्रस्तुत श्लोक में आचार्य दडी का चिह्न से यह तात्पर्य है कि कवि अपने ग्रथ में एक चिह्न बना देते हैं जो उस ग्रथ को अन्य ग्रथो से

पृथक् करने में सहायक होता है। यथा—शिशुपाल-वध के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'श्री' शब्द का सन्निवेश किया गया है। इसी प्रकार किरातार्जुनीय में प्रत्येक सर्ग के अतिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का समावेश किया गया है। इस प्रकार के शब्द के समावेश द्वारा जोकि एक चिह्न का काम देता है, अन्य ग्रथो से पृथक् करने में सहायता प्राप्त होती है।

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तर ।

गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ॥३१॥

अर्थ--गद्य-पद्य-मिश्रित रचना नाटक आदि दृश्य काव्यो में होती है जिसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र है। एक गद्यपद्यमयी रचना 'चम्पू' भी कहलाती है।

टिप्पणी—सस्कृत में गद्यपद्यमयी रचनाओ में 'नलचम्पू', 'रामायण-चम्पू' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में 'यशोधरा' इसी प्रकार की रचना है। इसी परिच्छेद के ११वें श्लोक की टिप्पणी भी देखिए।

तदेतद्वाङ्मय भूय सस्कृत प्राकृत तथा।

अपभ्र शश्च मिश्र चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम् ॥३२॥

अर्थ—इस प्रकार विद्वज्जन इस वाङ्मय को सस्कृत, प्राकृत, अप-भ्र श तथा मिश्र (विविधभाषा युक्त) चार प्रकार का कहते है।

टिप्पणी—साहित्य में प्रयुक्त होने वाली प्राकृतो के ६ भेद हैः

महाराष्ट्री, पालि, मागधी, शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची। इन प्राकृतो से भी आगे चलकर अपभ्र श का युग आया जिसमें ३ प्रकार की अपभ्र श हुई—१ नागर, २ उपनागर, ३ व्राचड।

सस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभि ।

तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेक प्राकृतक्रम ॥३३॥

अर्थ—महर्षियो ने सस्कृत भाषा को देववाणी कहा है। तद्भव, तत्सम, देशी इत्यादि प्राकृत क्रमश. अनेक हैं।

टिप्पणी—तद्भव का अर्थ है सस्कृत से उत्पन्न यथा हत, कण्ण इत्यादि शब्द।

तत्सम—संस्कृत के समान शब्द। यथा कीर:, गौः इत्यादि।

देशी—विभिन्न बोलियों में प्रचलित शब्द। यथा चर्म्सिस्मी सुवर्ण, दोग्घट, हाथी इत्यादि।

यहाँ पर तद्भव, तत्सम, देशी—तीन प्रकार की प्राकृत मानी गई है। कुछ विद्वान् प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार करते हैं। तद्भव के अर्थ में वे सस्कृत से उत्पन्न महाराष्ट्री को लेते हैं। तत्सम में शौरसेनी आदि को लेते हैं तथा देशी के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रान्तो की अन्य भाषाओं को लेते हैं। पर आचार्य दडी का यह तात्पर्य नहीं। आचार्य दडी ने एक ही भाषा में तद्भव, तत्सम, देशी यह विभाग करते हुए प्रत्येक भाषा की त्रिविधता प्रदर्शित की है। इस प्रकार क्रमश अनेक प्राकृत हैं।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्ट प्राकृत विदु:।
सागर सूक्तिरत्नाना सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥३४॥

अर्थ—विद्वज्जन महाराष्ट्र में प्रयुक्त भाषा को, जिसमें सूक्ति-रत्नो के 'सागरसेतुबन्ध' आदि ग्रथ हैं, उत्कृष्ट प्राकृत कहते हैं।

टिप्पणी—प्रवरसेन कवि ने 'सेतुबन्ध' नामक काव्य की महाराष्ट्री भाषा में रचना की है।

शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सनिधिम् ॥३५॥

अर्थ—शौरसेनी, गौडी, लाटी तथा अन्य वैसी ही भाषाएँ साधारण व्यवहार में प्राकृत नाम से ही परिगणित होती हैं।

टिप्पणी—भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में कुछ अन्य भाषाओं का भी उल्लेख किया है, जो साधारणत 'प्राकृत' नाम से ही व्यवहृत होती हैं।

"मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेनार्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता॥" भरत॥

आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्र श इति स्मृता ।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्र शतयोदितम् ॥३६॥

अर्थ—काव्यो में आभीर आदि भाषाओ का अपभ्र श के अन्तर्गत परिगणन किया गया है । शास्त्रो में सस्कृत से भिन्न अन्य सभी भाषाओ का 'अपभ्र श' शब्द द्वारा ही कथन किया गया है ।

टिप्पणी—शास्त्र में सस्कृत और अपभ्र श ये ही दो भेद है । सस्कृत से इतर सब कुछ 'अपभ्र श' शब्द द्वारा ही निर्दिष्ट किया गया है । यथा—पतजलि ने लिखा है—

"ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा यदेष अपशब्द. । म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येय व्याकरणम् ।" —पातजल-महाभाष्य

सस्कृत सर्गबन्धावि प्राकृत स्कन्धकादिकम् ।
आसारादीन्यपभ्र शो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥३७॥

अर्थ—सर्ग ग्रथित महाकाव्य आदि सस्कृत भाषा के अन्तर्गत, स्कन्ध आदि में रचित काव्य प्राकृत के अन्तर्गत तथा आसार आदि में रचित काव्य अपभ्र श के अन्तर्गत और नाटक आदि मिश्र भाषाओ के अन्तर्गत आते हैं ।

टिप्पणी—सस्कृत में रामायण आदि को, प्राकृत में सेतुबन्ध आदि को, अपभ्र श में कर्ण-पराक्रम आदि रचना के रूप में गृहीत किया जा सकता है ।

कथा हि सर्वभाषाभि सस्कृतेन च बध्यते ।
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥३८॥

अर्थ—कथा की रचना सस्कृत में तथा अन्य भाषाओ में भी की जाती है । विविध आश्चर्ययुक्त बृहत्कथा को भूत भाषा (पैशाची भाषा) में रचित कहा गया है ।

टिप्पणी—बृहत्कथा के लेखक प्रसिद्ध कवि गुणाढ्य हैं । यह पुस्तक पैशाची भाषा में लिखी गई है । पैशाची भाषा का ही अन्य नाम भूत भाषा है । यहाँ मनुष्येतर भूत, पिशाच, किन्नर आदि द्वारा प्रयुक्त भाषा

से ही तात्पर्य है। 'भूत भाषा' यह शब्द दंडी का स्वयं गढ़ा हुआ नहीं है अपितु सर्वसाधारण द्वारा व्यवहृत हुआ है। बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर आदि इसी बृहत्कथा के ही अनुवाद हैं।

लास्यच्छलितशम्पादि प्रेक्षार्थमितरत् पुनः।
श्रव्यमेवेति सैषापि द्वयी गतिरुदाहृता ॥३९॥

अर्थ—लास्य (स्त्री-पुरुष का नृत्य) (छलित पुरुष का नृत्य) शम्पा (पूर्व रंग के अन्तर्गत वाद्यप्रयोग-विशेष) इत्यादि नृत्य केवल देखने के लिए ही होते हैं जो दृश्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु इनसे भिन्न श्रव्य काव्य की श्रेणी में आते हैं जो केवल सुनने के लिए हैं। इस तरह (प्राचीनों के द्वारा काव्य की) दो प्रकार की पद्धति बतलाई गई है।

टिप्पणी—

लास्य—"लासः स्त्रीपुंसयोर्भावस्तदर्हं तत्र साधु वा।
लास्यं मनसिजोल्लासकरं मृद्वङ्गहाववत् ॥
कोमलं मधुरं लास्यं शृङ्गाररससंयुतम् ।"

छलित—"पुंनृत्यं छलितं विदुः।"

शम्पा—"शम्पा तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च।
पुनश्चैककला शम्पा संनिपातः कलात्रयम् ॥"

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥४०॥

अर्थ—आपस में सूक्ष्म भेदों के कारण, (पृथक् हुई) रीतियों के अनेक भेद हैं। उनमें से स्पष्ट भेद के कारण पृथक् परिलक्षित वैदर्भी तथा गौडी रीतियों का निरूपण किया जाता है।

टिप्पणी—यद्यपि रीति-सम्प्रदाय की स्थापना तो ९वीं शताब्दी के आसपास आचार्य वामन द्वारा हुई तथापि रीति का अस्तित्व उनसे पूर्व भी निश्चितरूपेण विद्यमान था। दण्डी ने विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगत ।
अवन्तीदाक्षिणात्या च पांचाली चाथ मागधी ॥

बाण भट्ट ने भी हर्षचरित में इनका उल्लेख किया है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

बाण भट्ट के अनन्तर भामह ने वैदर्भ और गौड के लिए रीति के अर्थ में 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है ।

भामह के उपरान्त रीति-विवेचन दडी ने किया । वास्तव में दडी ने सस्कृत-काव्य-शास्त्र के इतिहास में प्रथम बार रीति को महत्त्व देकर इतने मनोयोग से उसका विवेचन किया कि कतिपय विद्वान् उन्हे इसी आधार पर रीतिवादी मानते हैं । दडी का रीति-विषयक विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । आचार्य दडी ने ही सर्वप्रथम रीति और गुण का सम्बन्ध स्थापित किया है । दडी ने श्लेष, प्रसाद आदि गुणो को वैदर्भ मार्ग के गुण माना जबकि भरत ने इनको काव्य-गुण माना ।

'रीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग-मार्ग के अर्थ में करते हुए वामन ने इस सम्प्रदाय की पूर्ण सस्थापना की । वामन ने लिखा है—

रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्टा पदरचना रीति । विशेषो गुणात्मा । सा च त्रिधा, वैदर्भी गौडी पाचाली चेति ।

मम्मट ने उपनागरिका, परुषा, कोमला वृत्तियो का विवेचन करते हुए कहा है—

'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भीगौडीया पाचालाख्य रीतय उच्यन्ते ।'

विश्वनाथ ने रीतियो की सख्या चार मानी है—

**"पदसघटना रीतिरगसस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्रीरसादीनां सा पुन स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाचाली लाटिका तथा ।"** सा द —नवमपरिच्छेद

पदो के मेल या सगठन को रीति कहते हैं । वह अङ्गसस्थान की

तरह मानी जाती है। यह काव्य के आत्मभूत रस, भाव आदि की उपकारक होती है। यह रीति चार प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी।

सरस्वतीकंठाभरण में ६ प्रकार की रीतियाँ कही गई हैं—

वैदर्भी चाथ पाचाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते॥"

श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥४१॥

अर्थ—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति—ये वैदर्भ रीति के दस गुण हैं।

टिप्पणी—सबसे पूर्व यद्यपि भरत ने गुणो का कुछ विवेचन किया था पर वह इतना समृद्ध न था जितना आचार्य दडी का। भरत ने पहले दोषो का वर्णन किया तथा गुणो को दोषो का अभावात्मक तत्त्व अर्थात् दोषो का विपर्यय माना। दडी ने गुणो का सविस्तार वर्णन करते हुए उन्हे एक प्रकार के अलकार अर्थात् काव्य के शोभा-विधायक धर्म माना। इस प्रकार गुणो को शब्दार्थ से सम्बन्धित करते हुए उन्हे रसाश्रित न मानकर काव्य के स्वतन्त्र अग के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य वामन ने भी दडी का अनुसरण करते हुए गुणो को रस के धर्म न मानकर शब्दार्थ के धर्म मानते हुए काव्य में उनकी स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता मानी।

ध्वनिकार ने गुणो का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हे रसाश्रित माना। आगे चलकर गुण की यही परिभाषा सर्वमान्य हो गई। भरत के अनुसार दश गुण ये हैं—

श्लेष प्रसाद समता समाधिर्माधुर्यमोज पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥"

दडी ने भी यही दस गुण माने हैं पर क्रम कुछ भिन्न है।

वामन ने भी इन दस गुणो को ही माना है पर उन्होने प्रत्येक गुण

के शब्दगुण और अर्थगुण दो भेद माने है। इस तरह गुणो की सख्या बीस हो जाती है। भोज ने २४ गुण माने जबकि अग्निपुराण में ये १८ ही रह गये।

काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग में ही भामह ने केवल तीन गुणो का अस्तित्व स्वीकार किया था। बाद में जब ध्वनिरसवादियो ने काव्य के सभी अगो का पुनराख्यान किया तो भामह के ये तीन गुण ही मान्य हुए। काव्यप्रकाश में ३ गुण ही गिनाये गये हैं : माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—

'माधुर्यौज प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।'

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता ।
एषां विपर्यय. प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥४२॥

अर्थ—इस प्रकार दश गुणो को वैदर्भ रीति का प्राण स्वीकार किया गया है। इन गुणो से प्राय विपरीत गुण गौडी रीति में दिखाई देते हैं।

श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् ।
शिथिल मालतीमाला लोलालिकलिला यथा ॥४३॥

अर्थ—शैथिल्य-विहीन पद-रचना श्लेष कहलाती है। शिथिल पद वही है, जिसमें अल्पप्राण अक्षरो का आधिक्य होता है जैसे मालतीमाला, लोलालिकलिला अर्थात् चचल भ्रमरो से लदी हुई मालती पुष्पो की माला।

टिप्पणी :

अल्पप्राण—वर्गाणा प्रथमतृतीयपचमायणश्च अल्पप्राणा । प की वर्गों के प्रथम, तृतीय, पचम तथा य, व, र, ल अल्पप्राण कहलाते हैं।

अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्ट बन्धगौरवात् ।
वैदर्भैर्मालतीदाम लङ्घित भ्रमरैरिति ॥४४॥

अर्थ—अनुप्रास-प्रिय वुद्धि के कारण गौड देश के कवियो को वह अभीप्सित है। शैथिल्य-रहित सुगुम्फित गाम्भीर्य-युक्त होने से 'मालती दाम लङ्घित भ्रमरैरिति' अर्थात् 'मालतीमाला भौंरों द्वारा व्याप्त' इष्ट है।

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभग वच ॥४५॥

अर्थ—प्रसिद्ध अथवा सुपरिचित अर्थयुक्त तथा सरलता से समझ में आने वाले वाक्य को प्रसाद-गुण-युक्त कहा है। यथा 'इन्दोरिन्दीवरद्युति-लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' अर्थात् नील कमल की शोभा के समान चन्द्रमा का वह धब्बा इसके सौन्दर्य को और अधिक विकसित कर देता है।

व्युत्पन्नमिति गौडीयैर्नातिरूढमपीष्यते ।
यथानत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षाको वलक्षगु ॥४६॥

अर्थ—गौडीय कवियो द्वारा वह वाक्य प्रसादगुणवत् अभीप्सित होता है जोकि लोक-व्यवहार में अप्रसिद्ध तथा व्युत्पत्ति-युक्त होता है। जैसे 'अनति अर्जुन अब्जन्म सदृक्ष अंको वलक्षगुः' अर्थात् चन्द्रमा में नील कमल के समान धब्बा है।

टिप्पणी—गौडीय लोग अपना व्याकरण का पाडित्य प्रदर्शन के लिए लोक-व्यवहार में अप्रसिद्ध तथा दोषयुक्त पदावली का प्रयोग करते हैं। इन श्लोक की द्वितीय पक्ति में प्रयुक्त शब्द लोक-व्यवहार में अपने प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होते हुए देखे जाते है, पर गौडवासियों को सदोप क्लिष्ट शब्दो में अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना रुचिकर प्रतीत होता है। यह उदाहरण विहतार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, अधिकपदत्व, श्रुतिकटुत्व, कष्टत्व आदि दोषो से दूषित हैं।

समं बन्धेष्वविषम ते मृदुस्फुटमध्यमा ।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनय. ॥४७॥

अर्थ—विषमता-रहित पद-रचना ही समतागुण-युक्त है। मृदु, स्फुट, तथा मिन्न वर्णों की रचना के अनुसार इसके मृदु, स्फुट तथा मध्यम ये भेद क्रमश होते हैं।

टिप्पणी—मृदु, स्फुट तथा मध्यम इन तीनो भेदो में से मृदु, तथा स्फुट इन दोनो का गौडी रीति में तथा मध्यम का वैदर्भी में विकास देखा जाता है। यथा—

एषु मृदुस्फुटौ गौडीयं स्वीकृतौ ।
मध्यमस्तु अविषय इति वैदर्भ स्वीकृत ॥

कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिल. ।
उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भ कणोक्षित ॥४८॥

अर्थ—समता के अन्तर्गत मृदु का उदाहरण—

'कोकिल आलाप वाचाल मलयानिल मा एति' अर्थात् कोयल की कूक से मुखरित मलय-पर्वतीय समीर मेरी तरफ आती है।

समता के अन्तर्गत स्फुट का उदाहरण—

'उच्छन्त शीकरा. यस्मिस्तत् अच्छाच्छ निर्झराम्भ तस्य कणै उक्षितः मलयानिल मा एति' अर्थात् झरनो के अति स्वच्छ जल से निकल-कर उछलते हुए जलकणो से अभिषिक्त मलयानिल मेरी तरफ आती है।

चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुत ।
स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामाननानिलै ॥४९॥

अर्थ—मिश्र का उदाहरण—

चन्दन वृक्ष के ससर्ग से अत्यत सुगन्धित होता हुआ मन्द मलय समीर मेरे धैर्य को नष्ट करके सुन्दर स्त्रियो के मुखो से निकलती हुई श्वासो से स्पर्धा करता है।

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालकारडम्बरौ ।
अवेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धति ॥५०॥

अर्थ—इस प्रकार (उपरिनिर्दिष्ट) वैषम्य का विचार न करके अर्थ तथा अलकार के उत्कर्ष का अनुसरण करते हुए पूर्व-देश के गौडो की काव्य-पद्धति विकसित हुई है।

मधुर रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता ॥५१॥

अर्थ—वाक्य तथा वस्तु (शब्द और अर्थ) में रस की स्थिति होती है और रसयुक्त ही माधुर्य गुण है, जिसके द्वारा बुद्धिमान् उसी प्रकार

हर्षित होता है जिस प्रकार शहद से मधुमक्षिकाएँ मस्त होती है।

टिप्पणी—१. भरत ने माधुर्य का लक्षण इस प्रकार किया है

"बहुशो यच्छ्रुत काव्यमुक्त वापि पुन पुन ।
नोद्वेजयति तस्माद्धि तन्माधुर्यमुदाहृतम् ॥" भरत

२. "चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।" विश्वनाथ

चित्त का द्रुति-स्वरूप आह्लाद जिसमें अन्त करण द्रुत हो जाय ऐसा आनन्द-विशेष माधुर्य कहलाता है।

यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्ति. सानुप्रासा रसावहा ॥५२॥

अर्थ—जिस किसी शब्द-समूह के उच्चारण द्वारा उसमें जो समता का अनुभव होता है वही अनुभवगम्य पदस्थिति (व्यवधान-रहित पद प्रयोग) अनुप्रास-युक्त रसोत्पत्ति करती है।

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रिय. ।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत् ॥५३॥

अर्थ—[उदाहरण] जबसे इस ब्राह्मणप्रिय राजा ने राज्य प्राप्त किया है उस काल से ही धर्म के लिए इस ससार में उत्सव हुआ।

टिप्पणी—इस पद में स्थान-श्रुति की समता का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया गया है—षकार तथा रेफ का मूर्धन्य स्थान, जकार तथा यकार का तालव्य, दकार तथा लकार का दन्त्य, पकार तथा मकार का ओष्ठ्य स्थान है। श्रुत्यनुप्रास की अपेक्षा वृत्यनुप्रास अधिक महत्त्व वाला है।

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रिय ।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमीप्सितम् ॥५४॥

अर्थ—एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले शब्दसाम्य वाले श्रुत्यानुप्रास का गौडीय कवियो ने आदर नही किया, क्योकि इनको वर्णावृत्ति-युक्त अनुप्रास प्रिय है। किन्तु वैदर्भ कवियो को वर्णानुप्रास की अपेक्षा श्रुत्य-नुप्रास अधिक प्रिय है।

टिप्पणी—विदर्भ देश के कवियो को श्रुत्यनुप्रास ही प्रिय है।

इसके विपरीत गौडीय कवियो को वर्णानुप्रास प्रिय है।

वर्णावृत्तिरनुप्रास पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥५५॥

अर्थ—वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं। यह आवृत्ति वाक्य-चरण में व पदो में होनी चाहिए। किन्तु वह सामीप्ययुक्त पूर्व वर्ण के सस्कार को उद्‌बोधन कराने वाली होनी चाहिए, अर्थात् वह वर्णावृत्ति पूर्व उच्चरित वर्ण के अनुभव से जनित भावना-विशेष को जागृत करने वाली हो।

चन्द्रे शरन्निशोत्तसे कुन्दस्तवकविभ्रमे ।
इन्द्रनीलनिभ लक्ष्म सन्दधात्यलिन श्रियम् ॥५६॥

अर्थ—[उदाहरण] चरणों में अनुप्रास का उदाहरण है—शरद् रात्रि के शिरोभूषण-रूप कुन्द कुसुमो के गुच्छों की शोभा से युक्त चन्द्रमा में नीलम के समान धब्बा भ्रमर की शोभा देता है।

टिप्पणी—यहाँ प्रथम, द्वितीय, तृतीय पादो में शकार, ककार, वकार, नकार, लकार आदि वर्णों की पुनरावृत्ति के कारण साम्य की प्रतीति होने से वृत्त्यनुप्रास है। चतुर्थपाद में दकार, धकार, तकार, नकार का एक ही दन्त्य उच्चारण-स्थान होने से श्रुत्यनुप्रास है।

चारु चान्द्रमस भीरु बिम्ब पश्यैतदम्बरे ।
मन्मनो मन्मथाक्रान्त निर्दय हन्तुमुद्यतम् ॥५७॥

अर्थ—[उदाहरण] हे भीरु, कामदेव से उन्पीडित मेरे मन को मारने के लिए उद्यत इस सुन्दर चन्द्रमा के निर्दय बिम्ब को आकाश में देखो।

टिप्पणी—यह शब्दो में अनुप्रास का उदाहरण है। चा चा, म्ब म्ब, मन्म मन्म—इस प्रकार यहाँ पर वर्णों की आवृत्ति है। जहाँ इस प्रकार की एक बार ही वर्णों की आवृत्ति होगी वहाँ छेकानुप्रास होगा तथा जहाँ अनेक बार वर्णों की आवृत्ति होगी वहाँ वृत्यनुप्रास होगा।

इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम् ।
न तु रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा इति ॥५८॥

अर्थ—(कवि लोग) इस प्रकार (उपरिवर्णित) अनुप्रास को पसन्द करते है जिनमें श्रवणसाम्यता का अन्तर दूरी पर नही है। ऐसे नही जैसे—'रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा' युवती का मुख रूपी कमल चन्द्रमा के समान है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा' इस वाक्य में 'मा' यह वर्ण एक वार आदि में आता है और फिर अन्त में भी आता है। परन्तु यहाँ बीच में काफी व्यवधान पड जाता है। अत यहाँ पर इसके पुन श्रवण से अनुप्रासत्व नही होता।

स्मर. खर खल कान्त. काय कोपश्च न. कृश·।
च्युतो मानोऽधिको रागो मोहो जातोऽसवो गता ॥५६॥

अर्थ—[उदाहरण]कामदेव निष्ठुर तथा अति दुष्ट है। हमारा शरीर तथा क्रोध दोनो क्षीण हो गये हैं। मान तो चला गया परन्तु मेरा अनुराग बढ़ गया है। मैं मोहित हो गई हूँ और मेरे प्राण निकल गये हैं।

टिप्पणी—यहाँ खडिता नायिका की दशा का वर्णन किया गया है। विप्रलभ श्रृगार की व्यजना है। 'र ख, र ख, का का' आदि वर्णों की आवृत्ति होने पर भी कठोरता व शिथिलता आदि दोष के होने से यहाँ अलकार दोष की श्रेणी में आता है।

इत्यादि वन्धपारुष्य शैथिल्यं च नियच्छति।
अतो नैवमनुप्रास दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार की अनुप्रास-युक्त रचना के द्वारा पदविन्यास में कठोरता और शिथिलता आ जाती है। इस कारण दाक्षिणात्य कवि (दक्षिण देश के कवि) ऐसे (सदोष) अनुप्रास का प्रयोग नही करते।

टिप्पणी—इस पद के पूर्वार्द्ध में निरन्तर विसर्गों के आने से कठोरता आ गई है। पूर्वपद की शैथिल्य-रहित रचना है किंतु उत्तरपद की वैसी नही है। अत. यह अनुप्रास-युक्त सदोष रचना है।

आवृत्ति वर्णसघातगोचरा यमक विदु।
तत्तु नैकान्तमधुरमत पश्चाद्विधास्यते ॥६१॥

अर्थ—[अनुप्रास की तरह यमक का भी निरूपण यहाँ क्यो न होना चाहिए इसके उत्तर में कहते है]

वर्ण-समुदाय-विषयक आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं। वह यमक-युक्त पद्य पूर्णतया माधुर्यगुण विशिष्ट नही अत इसका वर्णन आगे (शब्दालकारो में) किया जायगा।

टिप्पणी—अनुप्रास में बहुत से अथवा एक स्वर से युक्त व्यजनो की आवृत्ति होती है। परन्तु यमक में तो स्वर-सहित व्यजनो की पूर्वक्रम से आवृत्ति होती है। यह दोनो अलकारो में भेद है। स्वर-सहित वर्ण-समुदाय की आवृत्ति की अपेक्षा वर्णों की आवृत्ति के बीच-बीच में विभिन्न वर्णो के प्रवेश के कारण अनुप्रासयुक्त रचना-विशेष शोभाशालिनी होती है। यमक में अर्थ-प्रतीति सरलता से नही होती अत रस की उद्भावना जल्दी नही होती। इसके विपरीत अनुप्रास में शीघ्र ही अर्थ बोध होने से सरलता से रस-प्रतीति हो जाती है।

काम सर्वोप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवेन भार वहति भूयसा ॥६२॥

अर्थ—[उदाहरण] यह माना कि सभी अलकार अर्थात् (शब्दालकार, अर्थालकार, तथा उभयालकार) अर्थ में रस का सचार करते है परन्तु फिर भी ग्राम्यता-दोष का अभाव ही इस भार को अत्यधिक वहन करता है।

कन्ये कामयमान मा न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ॥६३॥

अर्थ—[उदाहरण] हे बाला ! मैं तुम्हारी कामना करता हूँ, तुम मेरी कामना क्यो नही करती। यहाँ इस अर्थ के स्वरूप में ग्राम्यता है जिसके द्वारा इसमें व्याघात होता है।

टिप्पणी—यहाँ 'कन्या' शब्द में ग्राम्यता है। क्योकि 'कन्या शब्द का प्रयोग शिष्ट व्यवहार में किया जाता है अर्थात् पुत्री के आह्वान आदि में। नायिका के लिए तो 'प्रेयसी', 'सुन्दरी', 'कामिनी' आदि शब्द प्रयुक्त होते है। कन्या से, साथ ही, प्रेम का प्रस्ताव भी अशिष्ट शैली से किया गया है।

अत यहाँ ग्राम्यता-दोष है।

ग्राम्यता

'यद्यत्रानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्य स्मृत यथा।"

जो जहाँ अनुचित है वह वहाँ ग्राम्य कहलाता है।

काम कन्दर्पचाडालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावह. ॥६४॥

अर्थ—[उदाहरण] हे सुनयनी! मैं मानता हूँ कि चाडाल काम मेरे लिए निर्दय है, पर भाग्यवश तुममे उसको द्वेष नही है। इस प्रकार का ग्राम्यता-रहित अर्थ रसोत्पत्ति-कारक होता है।

टिप्पणी—यहाँ पर नायिका के सम्बोधन का प्रकार तथा बात के कथन का प्रकार मनोहर है, अत यह पद ग्राम्यता-रहित है। यह उक्ति का प्रकार सहृदयो के हृदय में रस का सचार करने वाला है।

शब्देऽपि ग्राम्यतास्त्येव सा सभ्येतरकीर्त्तनात्।
यथा यकारादिपद रत्युत्सवनिरूपणे ॥६५॥

अर्थ—अशिष्ट शब्दो के कथन में भी ग्राम्यता होती है जिस प्रकार रति-उत्सव के वर्णन में यकार से आरम्भ हुए पदो का कथन।

टिप्पणी—माधुर्य के अन्तर्गत ऊपर अर्थगत ग्राम्यता दिखाकर शब्दगत ग्राम्यता प्रदर्शित की है। 'यभ् मैथुने' से जैसे—यमन्। इस प्रकार के यकारादि शब्द भी ग्राम्यतायुक्त होते हैं। परन्तु 'सुरत' आदि शब्द जो शिष्ट समाज द्वारा आदृत हैं, वे ग्राम्यता-रहित होते हैं।

पदसधानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुन।
दुष्प्रतीतिकर ग्राम्य यथा या भवत. प्रिया ॥६६॥

अर्थ—कुछ पदो के योग से अथवा वाक्य के अर्थ द्वारा भी दुष्ट अर्थ की प्रतीति करने वाला ग्राम्य-दोष उत्पन्न होता है। जैसे 'या भवतः प्रिया' अर्थात् 'यह आपकी प्रिया है'।

टिप्पणी— यहाँ 'या भवत प्रिया' इस वाक्य के पद 'याभवत.' को एक-साथ मिला दें तो हमें 'यभ् मैथुने' धातु के द्वारा दुष्ट अर्थ का बोध

होता है जो कि ग्राम्यता-दोष से युक्त है। अत पदो के सान्निध्य से उद्भूत ग्राम्यता दोष के कारण माधुर्य का अभाव रहता है ।

खर प्रहृत्य विश्रान्त पुरुषो वीर्यवानिति ।
एवमादि न शसन्ति मार्गयोरुभयोरपि ॥६७॥

अर्थ—[वाक्य के अर्थ द्वारा दुष्प्रतीति ग्राम्यता का उदाहरण] 'खर प्रहृत्य वीर्यवान् पुरुष विश्रान्त' 'खर को मारकर वीर्यवान् पुरुष ने विश्राम किया'। उपरोक्त प्रकार के उदाहरणो से युक्त रचनाएँ दोनो प्रकार की (वैदर्भी तथा गौडी) शैलियो में अभीप्सित नही हैं।

टिप्पणी—'खर प्रहृत्य' इस वाक्य के अर्थ द्वारा भी ग्राम्यता-दोष उत्पन्न होता है। यहाँ पर शुक्रयुक्त पुरुष ने बहुत मैथुन करके विश्राम किया' इस बुरे अर्थ की भी व्यजना होती है। अत ग्राम्यता-दोषयुक्त यह रचना माधुर्य से रहित है।

भगिनीभगवत्यादि सर्वत्रैवानुमन्यते ।
विभक्तमिति माधुर्यमुच्यते सुकुमारता ॥६८॥

अर्थ—भगिनी, भगवती आदि शब्द सर्वत्र ही प्रत्येक शैली द्वारा अनुमोदित है। यहाँ तक माधुर्य की [विभाग द्वारा] व्याख्या की गई। अब सुकुमारता का लक्षण कहा जाता है।

टिप्पणी—यहाँ तक आचार्य ने माधुर्य गुण की व्याख्या की है। गौड-देशवासी वृत्त्यनुप्रास-प्रधान काव्य को तथा विदर्भ-देशवासी श्रुत्यनुप्रास-प्रधान काव्य को माधुर्य-गुण-विशिष्ट मानते हैं। इस प्रकार के विभाग द्वारा माधुर्य गुण का निरूपण किया गया है।

अनिष्ठुराक्षरप्राय सुकुमारमिहेष्यते ।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शित सर्वकोमले ॥६९॥

अर्थ—प्राय कर्णकटु-रहित कोमल अक्षरो से युक्त वाक्य ही सुकु-मार-गुण-विशिष्ट होता है। सभी कोमल अक्षरो से युक्त रचना में शैथिल्य-दोष आ जाता है, यह पूर्व ही प्रदर्शित किया जा चुका है।

टिप्पणी—सुकवियो के अनुसार वही श्रेष्ठ रचना है जिसमें कोमल

अक्षरों के मध्य में परुष अक्षरों का (अर्थात् अल्पप्राण तथा महाप्राण अक्षरों से युक्त) सुन्दर समन्वय रहता है।

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥७०॥

अर्थ—वर्षाकाल में मोर मधुर गीतो को गले से निकालते हुए अर्थात् कूकते हुए पखो को मडलाकार में फैलाकर नाचते है ।

टिप्पणी—इस प्रकार की रचना में कोमल तथा कठोर अक्षरो का सुन्दर सम्मिश्रण है। अत यह रचना सुकुमार-गुण-युक्त है।

इत्यनूर्जित एवार्थो नालकारोऽपि तादृश ।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः ॥७१॥

अर्थ—उपर्युक्त पद में भी उर्जस्वित नहीं है और न उस प्रकार का अलकार ही है तो भी यह पद्य सुकुमारता के कारण सज्जनो के मन को आकृष्ट कर लेता है।

टिप्पणी—यद्यपि इस पद्य में समानोक्ति है तथापि रस-शून्यता के कारण यह विशेष चमत्कारयुक्त नही है। सुकुमार गुण की प्रधानता के कारण ही यह पद्य काव्य के अन्तर्गत आता है, अत सुकुमार गुण स्वीकार करना चाहिए। अलकार की अपेक्षा गुण ही प्रधानत काव्य के हेतु है। इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने कहा है।

तया कवितया किं वा तया वनितया च किम् ।
पदविन्यासमात्रेण यया न ह्रियते मन. ॥

उस कविता वा उस वनिता से क्या जोकि पदविन्यासमात्र से ही मन को आकृष्ट नही करती।

दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि बध्यते ।
न्यक्षेण क्षपित पक्ष क्षत्रियाणा क्षणादिति ॥७२॥

अर्थ—गौड कवियो द्वारा उत्तेजक रचना जोकि कठिनता से पढी जाती है बहुलता से काव्य में प्रयुक्त की जाती है। जैसे 'न्यक्षेण क्षपित

पक्ष क्षत्रियाणा क्षणादिति'—परशुराम द्वारा क्षण में ही क्षत्रियो का समूह नष्ट कर दिया गया ।

टिप्पणी--यहाँ पर वीर-रस के वर्णन में श्रुतिकटु तथा कठोर अक्षरो का प्रयोग ही चमत्कार-विधायक है। अत गौड कवियो के मतानुसार इस प्रकार रचना में सुकुमारता-गुण त्याज्य है पर वैदर्भ कवि इस प्रकार के प्रयोग में भी सुकुमारता का आदर करते हैं।

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्यस्य हरिणोद्धृता ।
भू खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति ॥७३॥

अर्थ—ऊपर से गृहीत कष्टसाध्य कल्पना के अभाव को तथा प्रयुक्त पद में ही अर्थ की उपस्थिति को अर्थव्यक्ति कहते हैं। यथा 'हरिणा खुर क्षुण्णनागासृग्लोहिना दुदधे भू उद्धृता' इति। हरि ने खुर द्वारा कुचले गये सर्पों के रक्त से रजित पृथ्वी को समुद्र में से निकाला ।

टिप्पणी—प्रस्तुत प्रसग में अध्याहार के बिना ही प्रस्तुत शब्दो द्वारा पूर्ण अर्थ की प्रतीति होती है। यह शब्द का गुण है।

मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधे ।
इतीयत्येव निर्दिष्टे नेयत्वमुरगासृज ॥७४॥

अर्थ--(अनेयत्व के विपरीत नेयत्व का उदाहरण दिखाते है।) रक्त-रजित समुद्र में से महावराह द्वारा पृथ्वी निकाली गई, केवल इतना ही कहने पर 'सर्पों के रक्त से' इतना ऊपर से ग्रहण करना होगा।

टिप्पणी—यदि हम यहाँ 'सर्पों के रक्त से' इस पद्य का ऊपर से ग्रहण न करें तो यह प्रश्न उठेगा कि समुद्र तो लाल रग का नही होता। वह किस प्रकार लाल रग का हुआ, इसका समाधान करने के लिए बहुत कुछ ऊपर से ग्रहण करना पडेगा।

नेदृश वहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि ।
न हि प्रतीति सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी ॥७५॥

अर्थ—(वैदर्भी तथा गौडी) दोनो शैलियो में इस प्रकार के अध्याहार-युक्त वाक्य का वहुत मान नही होता क्योकि शब्दवोध के नियम का

व्यतिक्रमण करने वाली अध्याहार द्वारा वाक्य के अर्थ की प्रतीति समीचीन नही होती ।

उत्कर्षवान् गुण कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वय तेन सनाथा काव्यपद्धति. ॥७६॥

अर्थ—जिस रचना में किसी वाक्य के कथन किये जाने पर उत्कर्ष प्रतिपादक लोकोत्तर-चमत्कारी गुण-विशेष की प्रतीति हो वही उदार गुण होता है। उसी से (गौड वैदर्भी आदि) काव्यरीति पूर्ण उत्कर्ष वाली होती है।

अर्थिना कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव ! नान्यस्य मुखमीक्षते ॥७७॥

अर्थ—हे देव ! याचको की दयनीय दृष्टि आपके मुख पर केवल एक वार पडी, तदनन्तर पुन उनको उस दीन अवस्था में दूसरे का मुख नही देखना पड़ा ।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद्य द्वारा राजा की इस प्रकार की दान-शक्ति का वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा याचक परिपूर्ण मनोरथ-युक्त होकर दूसरे दाता की तरफ नही देखते । भगिमा-विशेष द्वारा दान का माहात्म्य का यह कथन सहृदयो के मन में चमत्कारोत्पादक होता है। अत यह पद्य उदारगुण-युक्त है।

इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते ।
अनेनैव पथान्यत्र समानन्यायमूह्यताम् ॥७८॥

अर्थ—इस प्रकार की दानस्तुति के वाक्य में उत्कर्ष स्पष्टतया परिलक्षित होता है। अन्यत्र भी इसी मार्ग का अनुसरण करके इस नियम के अनुसार पद्य-रचना करनी चाहिए ।

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदार कैश्चिदिष्यते ।
यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादय ॥७९॥

अर्थ—कुछ कवियो द्वारा विशेष्य के उत्कर्ष-विधायक मनोहर विशेषणो से युक्त रचना उदारगुण-विशिष्ट मानी जाती है। जैसे लीलाम्बुज,

क्रीडासर, हेमाङ्गद आदि ।

टिप्पणी—उपर्युक्त उदाहरणो में 'अम्बुज' कमल का विशेषण और 'लीला' शब्द शोभन व्यापार का द्योतक है । 'सर' तालाब का विशेषण, 'क्रीडा' शब्द तालाब की शोभा तथा क्रीडा की उपयोगिता का द्योतक है । 'अङ्गद' (बाजूबन्द) का विशेषण 'हेम' (सुवर्ण) परस्पर एक-दूसरे की प्रशसा के द्योतक हैं । ये सब उदारगुण के प्रकार हैं ।

ओज समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् ।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेक परायणम् ।।८०।।

अर्थ—समास की बहुलता ही ओज गुण है । यह गद्य का प्राण है । दाक्षिणात्यो के अतिरिक्त गौड आदि को पद्य में भी यही एक अत्यन्त प्रिय है ।

तद्गुरूणा लघूना च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणै. ।
उच्चावचप्रकार तद् दृश्यमाख्यायिकादिषु ।।८१।।

अर्थ—यह ओज गुण, गुरु और लघु अक्षरो के एकत्र रचना में अधिकता अथवा न्यूनता के सम्मिश्रण से विविध प्रकार का होता है । यह आख्यायिका आदि में देखा जा सकता है ।

टिप्पणी—

वृत्तगन्धोज्झित गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च ।
भवेदुत्कलिकाप्राय चूर्णक च चतुर्विधम् ।।
आद्य समासरहित वृत्तभागयुत परम् ।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्य तुर्यञ्चाल्पसमासकम् ।।

सा० द०—पृष्ठ ३३०—३३१

गद्य चार प्रकार का होता है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक । पहला समासरहित होता है । दूसरे में पद्य के अश पडे रहते हैं । तीसरे में दीर्घसमास और चौथे में छोटे-छोटे समास होते हैं ।

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसस्तरा ।
पीनस्तनस्थिता ताम्रकम्रवस्त्रेव वारुणी ।।८२।।

अर्थ—अस्ताचल के शिखर पर फैली हुई सूर्य की समस्त किरणो से आच्छादित पश्चिम दिशा उस नायिका के समान शोभित होती है जिसने रक्त वर्ण के सुन्दर वस्त्रो से अपने पीन कुचो को ढक रक्खा है।

टिप्पणी—इस पद मे सुन्दर उत्प्रेक्षा का निदर्शन किया गया है। पर यह अनुप्रासयुक्त होने से गौडवासियो का ओजस् उदाहरण जानना चाहिए।

इति पद्येऽपि पौरस्त्या वध्नन्त्योजस्विनीर्गिर ।
अन्ये त्वनाकुल हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरा यथा ।।८३।।

अर्थ—इस प्रकार गौडवासी पद्य में भी ओज-गुण-विशिष्ट पद-रचना करते हैं। परन्तु अन्य (वैदर्भवासी) तो काव्यमयी वाणी में जो कि कष्ट-रहित स्पष्ट अर्थ वाली तथा हृदयहारिणी हो उसमें ओज-गुण की अभिलाषा करते हैं।

टिप्पणी—ओज-गुण-विशिष्ट होना गौड तथा वैदर्भ दोनों को अभीप्सित है। परन्तु गौड कवि अनुप्रास के लोभवश अस्पष्ट अर्थ वाली समासयुक्त रचना द्वारा सहृदयो की वुद्धि को व्याकुल करते हैं और वैदर्भ इन सवका परिहार करके रम्य रचना द्वारा हृदयो को आह्लादित करते हैं। पर ओज गुण का अस्तित्व दोनो चाहते हैं।

पयोधरतटोत्सगलग्नसन्ध्यातपाशुका ।
कस्य कामातुर चेतो वारुणी न करिष्यति ।।८४।।

अर्थ—वादलो के तटो के (स्तनो के किनारो के) मध्य भाग को सायकालीन सूर्य-किरणो द्वारा (लाल रग के कपडे द्वारा) आच्छादित किये हुए पश्चिम दिशा (रूपी नायिका) किसके मन को काम-पीडित नही करेगी।

टिप्पणी—यद्यपि प्रथम पक्ति में समास-वाहुल्य है परन्तु वह क्लिष्ट न होकर मनोहर है। द्वितीय पक्ति में समास का एकदम अभाव है। इस प्रकार की रचना हृदय को आकृष्ट करने वाली होती है। यद्यपि कही समास की हानि हो तव भी वहाँ ओज-गुण की हानि नही होती।

क्रान्त सर्वजगत्कान्त लौकिकार्थानतिक्रमात् ।
तच्च वार्त्ताऽभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते ॥८५॥

अर्थ—कान्तिगुण वही है जिसमें लौकिक वस्तु का अतिक्रमण न कर लोक-प्रसिद्धि के अनुरूप ही वस्तु का वर्णन हो, जो सारे जगत् को प्रिय है। वह कान्ति-गुण-विशिष्ट वाक्य परस्पर वातचीत के विषय तथा वर्णनो में (वस्तुओ के स्वरूप के निर्धारण में) दृष्टिगोचर होता है।

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृश ।
सम्भावयति यान्येव पावनै. पादपांशुभि ॥८६॥

अर्थ—वे ही गृह (घर) कहलाने के योग्य है जिनको आप जैसे तपोधन ही अपनी पवित्र पद-रज से सम्मानित करते है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में सज्जन पुरुष के गृह में प्रवेश करने से गृह का प्रतिष्ठित होना, जोकि लोक-प्रसिद्ध ही है, वर्णित किया गया है। अतएव यहाँ वार्ता में कान्तिगुण है।

अनयोरनवद्याङ्गि ! स्तनयोर्जृम्भमाणयो ।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव वाहुलतान्तरे ॥८७॥

अर्थ—हे अनिन्द्य सुन्दरी तेरी लता रूपी भुजाओ के अन्तराल में इन दोनो विकासशील स्तनो के लिए विस्तार के अनुरूप पर्याप्त स्थान नही है।

टिप्पणी—यहाँ पर लौकिक अर्थ के अनतिक्रमण के वर्णन के अनुरूप ही कान्तिगुण है।

इति सभाव्यमेवैतद् विशेषाख्यानसस्कृतम् ।
कान्त भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिन ॥८८॥

अर्थ—उपरोक्त दोनो उदाहरणो में प्रतिपाद्य विपयवस्तु सम्भव है और यह विशेष कथन के प्रकार से सुशोभित है। लोक-व्यवहार के अनुकूल अनुसरण करने वाला सबका प्रिय तथा कान्ति गुणयुक्त होता है।

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षित ।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जना· ॥८९॥

अर्थ—जिसमें अत्युक्तिपूर्ण इस लोक से परे अलौकिक कल्पनापूर्ण वर्णन किया जाता है उस अर्थ से मर्मज्ञ (गौडवासी) ही अत्यन्त प्रमुदित होते हैं, अन्य (वैदर्भवासी) नही होते।

देवधिष्ण्यमिवाराध्यमद्यप्रभृति नो गृहम् ।
युष्मत्पादरज पातधौतनि शेषकिल्विषम् ॥६०॥

अर्थ—आज से आपकी चरण-रज के गिरने से सारे पाप प्रक्षालित हो गये हैं। ऐसा हमारा घर देवगृह के समान सबके लिए पूजनीय हो गया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद्य गौडो के मत में कान्तिगुण का उदाहरण है। परन्तु वैदर्भों के मतानुसार लौकिक अर्थ के अतिक्रमण से यह कान्ति-गुण का उदाहरण नही।

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
इदमेवंविध भावि भवत्या स्तनजृम्भणम् ॥६१॥

अर्थ—आपके इस प्रकार के भावी कुच-विकास या विस्तार का विचार किये बिना ही ब्रह्मा ने आकाश को छोटा बना दिया।

टिप्पणी—इस प्रकार का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन गौडो द्वारा कान्ति-गुण के रूप में स्वीकार किया जाता है।

इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद् गौडोपलालितम् ।
प्रस्थानं प्राक् प्रणीत तु सारमन्यस्य वर्त्मनः ॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार का उदाहरण काव्य में अतिशयोक्तिपूर्ण कहा गया है। इसको गौडो ने प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है। पूर्व-कथित उदाहरण में दूसरी शैली वैदर्भी का सार-रूप तत्त्व बतलाया गया है।

टिप्पणी—इस प्रकार दोनो शैलियो का उपसहार करते हुए यही भेद दोनो में बतलाया गया है।

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधि. स्मृतो यथा ॥६३॥

अर्थ—कवि द्वारा लोक-व्यवहार के परिपालन से अन्य अप्रस्तुत का

धर्म जब अन्यत्र जिस वाक्यार्थ में साध्यवसाना लक्षरणा द्वारा सम्यक्तया स्थापित किया जाता है वह वाक्यार्थ समाधिगुरण-विशिष्ट कहा जाता है। जैसे—

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च ।
इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुति ॥९४॥

अर्थ—कुमुदिनियाँ वन्द हो रही है (सकुचित हो रही है) और कमल खुल रहे हैं (खिल रहे हैं)। इस प्रकार यहाँ नेत्रो की खोलने तथा वन्द करने की क्रियाओ का कुमुदिनी तथा कमल पर आरोप होने के कारण उसी क्रिया को द्योतक शब्दो में लाया गया है।

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षा विगाहते ॥९५॥

अर्थ—थूकना, उगलना, कै करना आदि शब्द जब गौणी लक्षरणा-वृत्ति के विशिष्ट आश्रय से मुख्य अर्थ के सदृश अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तभी अत्यन्त मनोहारी लगते हैं अन्यथा अभिधावृत्ति द्वारा मुख्य अर्थ में प्रयुक्त होते हुए ये शब्द ग्राम्यार्थ-वाचक दोषो की श्रेरणी को प्राप्त करते हैं।

पद्मान्यर्काशुनिष्ठ्यूता पीत्वा पावकविप्रुष ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुरणरेणुभि ॥९६॥

अर्थ—कमल सूर्योदय होने पर सूर्य की किरणो से थूके हुए (निकले हुए) अग्नि-स्फुल्लिगो का पान करके अर्थात् उनसे अपनी पखुडियो को खिलाते हुए अपने मुखो से लाल पराग-रेणुओ को उगलते हुए (निकालते हुए) पुन कै करते हुए (बाहर फैंकते हुए) प्रतीत होते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में ये तीनो शब्द गौरण अर्थ में प्रयुक्त होते हुए चमत्कार-विधायक हैं।

इति हृद्यमहृद्य तु निष्ठीवति वधूरिति ।
युगपन्नैकधर्माणामध्यासश्च स्मृतो यथा ॥९७॥

अर्थ—इस प्रकार गौणवृत्ति द्वारा पूर्व प्रदर्शित निष्ठ्यूत आदि

शब्दो का प्रयोग प्रिय है पर 'वहू थूकती है' इस प्रकार का प्रयोग (ग्राम्य दोष के कारण)अप्रिय है। अनेक धर्मो का एक-साथ आरोप भी समाधि गुण के रूप में प्राचीनो द्वारा स्वीकृत है।

गुरुगर्भभरक्लान्ता स्तनन्त्यो मेघपङ्क्तय.।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमा समधिशेरते ॥९८॥

अर्थ—ये वादलो की पक्तियाँ (गर्भिणी नायिकाएँ) जल के वोझ से क्लान्त होकर (गर्भ के भार से खिन्न होकर) गरजते हुए (सिसकते हुए) पर्वतो की अधित्यकाओ के मध्य में (सखियो की गोद में) आश्रय लेती हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर मेघमालाओ पर गर्भिणियो के धर्मों का एक साथ आरोप किया गया है। अत पद्य समाधि गुण विशिष्ट है।

उत्सङ्गशयन सख्या स्तनन गौरव क्लम ।
इतीमे गर्भिणीधर्मा वहवोऽप्यत्र दर्शिता ॥९९॥

अर्थ—यहाँ पूर्व श्लोक में सखी की गोद में शयन करना, सिसकना, भार वहन करना, खिन्नता अदि ये गर्भिणी के वहुत से धर्म भी दिखलाये गये हैं।

टिप्पणी—इस प्रकार ये विभिन्न धर्म एकत्र होकर अतिशय चमत्कार के हेतु होते हैं।

तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुण ।
कविसार्थ समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति ॥१००॥

अर्थ—इस कारण अतिशय चमत्कार-वाहुल्य से यह समाधि नाम का गुण काव्य का सर्वस्व है। गौड वैदर्भ आदि सकल कवि-सम्प्रदाय इस प्रकार के उस समाधि गुण को (अपनी रचनाओ में स्थान देकर) समादृत करते हैं।

इति मार्गद्वय भिन्न तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तु प्रतिकवि स्थिता ॥१०१॥

अर्थ—इस प्रकार प्रत्येक के अपने-अपने स्वरूप के पृथक्-पृथक्

निरूपण से गौडी वैदर्भी ये दोनो शैलियाँ भिन्न है। प्रत्येक कवि में (अपनी-अपनी रचनाओ में) लक्षित विभिन्न भेदो का (अपरिमेयता के कारण) वर्णन करना कठिन है।

इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तर महत्।
तथापि न तदाख्यातु सरस्वत्यापि शक्यते ॥१०२॥

अर्थ—ईख, दूध और गुड आदि माधुर्यगुण-विशिष्ट पदार्थों की मधुरता में परस्पर महान् अन्तर है तथापि उस अन्तर के कथन करने में वाग्देवी सरस्वती भी असमर्थ है।

टिप्पणी—अत सक्षेप से ही दडी ने यहाँ दो भेदो का निरूपण किया है।

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुत च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारण काव्यसपद ॥१०३॥

अर्थ—पूर्वजन्म के सस्कारो से सम्पन्न, ईश्वरप्रदत्त स्वाभाविक प्रतिभा प्रज्ञा, विविध विशुद्ध ज्ञान से युक्त अनेक शास्त्रविद् तथा अत्यन्त उत्साहयुक्त दृढ अभ्यास—ये सब एकत्र होकर कविता-सम्पदा के कारण होते हैं।

टिप्पणी—बहुश्रुत होने के लिए कितने प्रकार के शास्त्रो का ज्ञान आवश्यक है इस विषय में आचार्य वामन का निम्न कथन है

'शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिचित्रकलाकामशास्त्रदडनीति-
ज्ञानरूपम्। वामन

इस विषय में वाग्भट का मत इस प्रकार है

'पदवाक्यप्रमाणसाहित्यच्छन्दोलकारश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागम-
नाट्याभिधानकोशकामार्थयोगादिरूपम्। वाग्भट

आचार्य मम्मट ने काव्यसपदा के निम्नलिखित कारण गिनाये हैं

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।

शक्ति अथवा कवि-प्रतिभा, निपुणता अथवा व्युत्पत्ति (जो लोक-

जीवन के अनुभव और निरीक्षण, शास्त्रो के अनुशीलन किंवा काव्य इत्यादि के विवेचन का परिणाम है) और अभ्यास अथवा कवि और काव्य-विमर्शक के उपदेश का अनुसरण करते हुए काव्य-निर्माण में लगना।

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना
गुणानुवन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥१०४॥

अर्थ—यद्यपि वह अलौकिक पूर्वसस्कारो के गुणो से सम्वन्धित सहज प्रतिभा नही है तव भी काव्य आदि के अनुशीलन तथा अभ्यास आदि के सतत प्रयत्न से वाग्देवी सरस्वती निश्चय ही कोई अलभ्य अनुग्रह करती ही है।

टिप्पणी—'चतुर्धा विद्या उपयुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्याय-कालेन, प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति'।

तदस्ततन्द्रैरनिश सरस्वती,
श्रमादुपास्या खलु कीर्त्तिमीप्सुभि।
कृशे कवित्वेऽपि जना. कृतश्रमा,
विदग्धगोष्ठीषु विहर्त्तुमीशते ॥१०५॥

अर्थ—इस कारण से कवित्व-जनित यश चाहने वालो को आलस्य-रहित होकर श्रमपूर्वक निश्चय से वाग्देवी सरस्वती की निरन्तर उपासना करनी चाहिए। काव्य-निर्माण का सामर्थ्य कम होने पर भी काव्यानुशीलन के प्रयास में परिश्रमी मनुष्य पडित-मडलियो में रसास्वादन करने में समर्थ होते हैं।

परवर्ती आचार्यों ने ही प्रदर्शित किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरातन आचार्यों ने केवल मूलभूत तत्त्व की ओर ही लक्ष्य कराया था। अतएव उन मूलभूत अलकार-तत्त्व का दडी द्वारा विशद विवेचन करने का प्रयास सर्वथा सराहनीय है।

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता प्रागप्यलङ्क्रिया ।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥३॥

अर्थ—कुछ श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास, यमकादि अलकारों का गौडी वैदर्भी आदि रीतियो में मार्ग-भेद का प्रदर्शन करने के लिए प्रथम परिच्छेद में ही विवरण प्रस्तुत कर दिया है। वहाँ इनका निरूपण इस कारण किया गया है कि वैदर्भमार्गी श्रुत्यनुप्रास को स्वीकार करते हैं। पर गौडमार्गी इसे स्वीकार नही करते। अत उनका पुन निरूपण नही किया गया है। अतएव पूर्वोक्त से भिन्न दोनो मार्गों द्वारा स्वीकृत अलकारो का विवेचन-वर्णन प्रस्तुत किया जाता है।

स्वभावाख्यानमुपमा रूपक दीपकावृती ।
आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ॥४॥
समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतु. सूक्ष्मो लव क्रम. ।
प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्त समाहितम् ॥५॥
उदात्तापह्नुतिश्लेष विशेषास्तुल्ययोगिता ।
विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुतिनिदर्शने ॥६॥
महोक्ति परिवृत्त्याशी सकीर्णमथ भाविकम् ।
इति वाचामलकारा दर्शिता. पूर्वसूरिभि ॥७॥

अर्थ—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लव, क्रम, प्रेय, रसवत्, उर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, सकीर्ण और भाविक ये वाक्यान्तर्गत ३५ अलकार प्राचीन आचार्यों ने बतलाये है।

[स्वभावोक्ति]

नानावस्थ पदार्थाना रूप साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ॥८॥

अर्थ—पदार्थों के जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य आदि के अनुसार विभिन्न अवस्थाओ में स्थित विशिष्ट स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित करती हुई अर्थात् वस्तु के यथावत् स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ एव उसके असाधारण धर्म की व्याख्या करती हुई स्वभावोक्ति या जाति उपरिनिर्दिष्ट अलकारो में सर्वप्रथम है ।

टिप्पणी—अब जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के भेद से स्वभावोक्ति के चार भेद प्रस्तुत किये जाते हैं ।

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलै. ।
त्रिवर्णराजिभि कण्ठैरेते मजुगिर· शुका. ॥९॥

(जाति का उदाहरण) अर्थ—ये मधुर प्रलाप करने वाले तोते, थोडी लाल और टेढी चोच वाले, हरे और कोमल पखो से युक्त और ग्रीवाओ में तीन प्रकार के वर्णों की रेखाओ से युक्त हैं ।

टिप्पणी—यह स्वभावोक्ति के अन्तर्गत जाति का उदाहरण है । यहाँ पर सम्पूर्ण शुक जाति में समान रूप से स्थित असाधारण धर्म चोच के लाल वर्ण का होना आदि वर्णन-वैचित्र्य के कारण साक्षात् के समान प्रतीत होता है । अत यहाँ पर जातिगत स्वभावोक्ति है ।

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षण. ।
पारावतः परिक्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥१०॥

अर्थ—कठ के अन्दर मजुल ध्वनि करता हुआ तथा प्रेम से प्रिया के मुख की तरफ अपने नेत्र सचालित करता हुआ रमणाभिलाषी कबूतर चारो तरफ परिक्रमा करके प्रिया का चुम्बन करता है ।

टिप्पणी—यह क्रियागत स्वभावोक्ति का उदाहरण है, जिसमें कपोत द्वारा मधुर ध्वनि करते हुए कपोती का चुम्बन आदि करने की स्वाभाविक क्रिया का स्पष्ट उल्लेख है ।

वध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्च कुर्वन् मनसि निर्वृतिम् ।
नेत्रे चामीलयन्नेष प्रियास्पर्श प्रवर्तते ॥११॥

अर्थ—शरीरागो में रोमाच पैदा करता हुआ, मन में अत्यन्त आनन्द पैदा करता हुआ तथा आनन्दातिशय के कारण नेत्रो को मूंदता हुआ यह प्रिया का स्पर्श सचरित हो रहा है।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रिया का स्पर्श गुण है। इसलिए यह गुणगत स्वभावोक्ति है।

कण्ठेकाल करस्थेन कपालेनेन्दुशेखर ।
जटाभि स्निग्धताम्राभिराविरासीद्वृषध्वज ॥१२॥

अर्थ—कठ में कालकूट धारण किये हुए, हाथ में कपाल लिये हुए, कोमल तथा लाल जटाओ से युक्त शीश पर चन्द्रमा धारण किये हुए तथा बैल के चिह्न से युक्त ध्वजा लिये हुए शिवजी आविर्भूत हुए।

टिप्पणी—यहाँ पर कठ में कालकूट आदि सारे धर्म शिव में द्रव्य रूप में स्थित हे। अत यहाँ द्रव्यगत स्वभावोक्ति स्पष्ट है।

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम् ।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्य काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥१३॥

अर्थ—स्वभावोक्ति के अन्तर्गत जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य का नैसर्गिक रूप में कथन करने का यही प्रकार है अर्थात् इस रीति के द्वारा स्वभाव का वर्णन करने से स्वभावोक्ति अलकार होता है। अलकार-शास्त्रो में तो इसका सर्वत्र आधिपत्य है ही, पर इसके अतिरिक्त काव्यो में भी कवियो द्वारा इसका प्रयोग अभीप्सित है।

टिप्पणी—यहाँ पर यह स्पष्ट है कि साहित्य में स्वभावोक्ति का विशिष्ट स्थान है। कवि लोग काव्य में इसका वहुलता से प्रयोग करते हे। सभी अलकारो में यही विराजमान है।

स्वभावोक्ति विषयक भामह की परिभापा इस प्रकार है—

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्व स्वभावोऽभिहितो यथा ॥ भामह

प्रकाशकार के मत में "स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रियारूप-वर्णनम् ।" मम्मट १०।१११

स्वभावोक्ति वह अलकार है जिसे वालक आदि की प्रकृतिसिद्ध क्रिया अथवा उनके रूप का वर्णन कहा करते है।

प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने चिन्तामणि नामक निवन्ध-सग्रह के 'कविता क्या है' इस निवन्ध में स्वभावोक्ति को अलकारो की कोटि में नही माना है। वे कहते है

"पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलकार ऐसे चले आ रहे है जो वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं और अलकार नही कहे जा सकते। जैसे स्वभावोक्ति उदात्त अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलकार-प्रेमी कह वैठते है कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलकार-कोटि में आ ही नही सकती। यह अलकार-वर्णन करने की प्रणाली है। किसी वस्तु-विशेष से किसी अलकार-प्रणाली का सम्वन्ध नही हो सकता। वस्तु-निर्देश अलकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। . वात यह है कि स्वभावोक्ति अलकारो के भीतर आ ही नही सकती। वक्रोक्तिवादी कुन्तल ने भी इसे अलकार नही माना है।"

[उपमा]

यथाकथञ्चित् सादृश्य यत्रोद्भूत प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्या प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते ॥१४॥

अर्थ—जहाँ काव्य में किसी भी प्रकार से दो पदार्थों में सादृश्य वर्णित किया जाय वहाँ उपमा नामक सादृश्यमूलक अलकार होता है। उसका यहाँ पर विस्तार प्रदर्शित किया जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यनिष्ठ अलौकिक-चमत्कारजन्य सादृश्यता ही उपमा कहलाती है।

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे ! करतलं तव।
इति धर्मोपमा साक्षात् तुल्यधर्मप्रदर्शनात् ॥१५॥

अर्थ—हे मुग्धे (सुन्दरी) ! तेरी हथेली लाल कमल (कोकनद) के समान लाल है। इस उक्त वाक्य में साक्षात् समानधर्म के कथन के कारण यहाँ धर्मोपमा है।

टिप्पणी—यहाँ पर कमल तथा हथेली दोनो का लाल रग का होना समानधर्म है, अत यहाँ धर्मोपमा है।

राजीवमिव ते वक्त्र नेत्रे नीलोत्पले इव ।
इय प्रतीयमानैकधर्मा वस्तूपमैव सा ॥१६॥

अर्थ—तुम्हारा मुख लाल कमल के समान है तथा नेत्र नीले कमल के सदृश हैं। यहाँ वस्तुओ में समानधर्म के प्रतीयमान होने से यह वही वस्तूपमा ही है।

त्वदाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति ।
सा प्रसिद्धिविपर्यासाद्विपर्यासोपमेष्यते ॥१७॥

अर्थ—'यह विकसित कमल तेरे मुख के समान हुआ' इस प्रसिद्ध विपरीतता के कारण यह विपर्यासोपमा कही जाती है।

टिप्पणी—यहां पर उपमेय-उपमान भाव की विपरीतता है। प्रस्तुत उदाहरण में मुख जोकि उपमेय है वह उपमान-रूप में वर्णित किया गया है और कमल जोकि उपमान है वह उपमेय-रूप में वर्णित किया गया है। अत यहाँ विपर्यासोपमा अलकार है।

परन्तु परवर्ती आचार्यों के मत में तो यह प्रतीप अलकार है। अत. कुवलयानद तथा साहित्यदर्पणकार ने कहा है—

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधान वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥"

साहित्यदर्पण ८७।१०

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाना या उसको निष्फल बताना प्रतीप अलकार कहलाता है।

तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।
इत्यन्योऽन्योपमा सेयमन्योऽन्योत्कर्षशसिनी ॥१८॥

अर्थ—कमल तेरे मुख के समान है, तेरा मुख कमल के समान है इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के उत्कर्ष को कथन करनेवाली यह अन्योऽन्योपमा है।

टिप्पणी—जहाँ पर क्रम से उपमान-उपमेय-भाव का वर्णन होता है वहीं अन्योऽन्योपमा होती है। साहित्य-दर्पणकार ने इसी अन्योऽन्योपमा को ही उपमेयोपमा माना है।

त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित्।
इत्यन्यसाम्यव्यावृत्तेरियं सा नियमोपमा ॥१९॥

अर्थ—तुम्हारा मुख कमल के ही समान है किसी दूसरे के समान नही, अर्थात् तुम्हारा मुख कमल जैसा ही है और दूसरे के जैसा नहीं। यहाँ दूसरे से समानता के निषेध के कारण ही यह नियमोपमा हुई।

टिप्पणी—जहाँ पर उपमानो की बहुलता होती है वहाँ उपमेय का अपकर्ष प्रतीत होने लगता है। परन्तु इस निषेध के कारण एक ही उपमान से सादृश्य की कल्पना करने पर उपमेय की उत्कर्षता द्योतित होती है। इस अलकार की कोई विशेष उपयोगिता न होने पर भी इसे दडी ने स्वीकार किया है।

पद्मं तावत् तवान्वेति मुखमन्यच्च तादृशम्।
अस्ति चेदस्तु तत्कारीत्यसावनियमोपमा ॥२०॥

अर्थ—कमल (स्निग्धता, कान्ति, शीतलता आदि की) अनुरूपता के कारण तुम्हारे मुख का अनुकरण करता है। पर कमल से भिन्न यदि उसी प्रकार की सुन्दर वस्तु (चन्द्र आदि) तेरे मुख का अनुकरण करनेवाली है तो वह भी अनुकरण करे। इस प्रकार अनियमितता के कारण यह अनियमोपमा है।

.टिप्पणी—जहाँ पर उपमेय तो एक हो पर उपमान के विषय में कोई भी नियम न हो वहाँ पर अनियमोपमा अलकार होता है।

समुच्चयोपमाप्यस्ति न कान्त्यैव मुखं तव।
ह्लादनाख्येन चान्वेति कर्मणेन्दुमितीदृशी ॥२१॥

अर्थ—तुम्हारा मुख केवल कान्ति के ही कारण नही अपितु प्रसन्नता के उत्पादन के कार्य द्वारा भी चन्द्रमा का अनुकरण करता है। इस प्रकार की समुच्चयोपमा होती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में गुण तथा क्रिया का समुच्चय है।

त्वय्येव त्वन्मुख दृष्ट दृश्यते दिवि चन्द्रमा ।
इयत्येव भिदा नान्येत्यसावतिशयोपमा ॥२२॥

अर्थ—तुम्हारा मुख तुम्ही में दिखाई दे रहा है और चन्द्रमा आकाश में दीखता है, दोनो में इतना ही भेद है कि एक का आश्रय शरीर है और दूसरे का आश्रय आकाश है। इसके अतिरिक्त अन्य भेद नही। इस प्रकार यह अतिशयोपमा है।

टिप्पणी—उपमान-उपमेय में गुण-क्रिया आदि का महान् भेद होने पर भी कुछ भेद-प्रदर्शन करके अन्य भेद नही है यह कथन कर अभिन्नता के अध्यवसान द्वारा उपमेय के गुण-क्रिया का अतिशय वर्णन प्रस्तुत किया गया है, अत यहाँ अतिशयोपमा है।

मय्येवास्या मुखश्रीरित्यलमिन्दोर्विकत्थनै ।
पद्मेऽपि सा यदस्त्येवेत्यसावुत्प्रेक्षितोपमा ॥२३॥

अर्थ—इसके मुख की शोभा मुझमें ही है, यह चन्द्रमा की आत्मश्लाघा व्यर्थ है क्योकि उस प्रकार की काति पद्म में भी विद्यमान है। इस प्रकार यह उत्प्रेक्षितोपमा है।

टिप्पणी—यहाँ पर चन्द्रमा की आत्मश्लाघा के असत्य होने के कारण नायक की चाटूक्ति की सम्भावना से यहाँ पर उत्प्रेक्षितोपमा है।

यदि किंचिद्भवेत्पद्म सुभ्रु ! विभ्रान्तलोचनम् ।
तत् ते मुखश्रिय धत्तामित्यसावद्भुतोपमा ॥२४॥

अर्थ—हे सुन्दरी ! यदि कमल थोडा-सा भी चचल नेत्रवाला होता तो वह तेरे मुख की शोभा को धारण कर लेता। यह अद्भुतोपमा है।

टिप्पणी—यहा पर चचल नेत्र आदि धर्म मुख के ही है जिनकी कल्पना के द्वारा कमल में स्थिति की सम्भावना की है जो चमत्कार की

वृद्धि करती है। अत यहाँ अद्भुतोपमा है।

शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि ! त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता ॥२५॥

अर्थ—हे कृशागी ! तेरे मुख को चन्द्रमा समझकर तेरे मुख की स्पृहा के कारण मैं चन्द्रमा के पीछे दौड रहा हूँ। इस प्रकार यह मोहोपमा कही गयी है।

टिप्पणी—साहित्यदर्पणकार ने मोहोपमा को भ्रान्तिमान् अलकार माना है यथा

"साम्यादतस्मिस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थित इति"

सा० द० १०।३६

सादृश्य के कारण अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को—यदि वह कवि की प्रतिभा से उट्टङ्कित हो—भ्रान्तिमान् अलकार कहते हैं।

किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि ! किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
मम दोलायते चित्तमितीय सशयोपमा ॥२६॥

अर्थ—क्या अन्दर घूमते हुए भौंरे से युक्त कमल है अथवा चचल नेत्रो वाला तुम्हारा मुख है। मेरे चित्त में इस प्रकार का सशय है। यह सशयोपमा है।

टिप्पणी—दर्पणकार के मत में यह सन्देह अलकार है। "सदेह प्रकृतेऽन्यस्य सशय प्रतिभोत्थित इति"

न पद्मस्येन्दुनिग्राह्यस्येन्दुलज्जाकरी द्युति.।
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा ॥२७॥

अर्थ—चन्द्रमा द्वारा तिरस्कृत कमल की कान्ति चन्द्रमा को लज्जित करनेवाली नही है। यह केवल तुम्हारा मुख ही है (जोकि चन्द्रमा की प्रभा को तिरस्कृत कर सकता है)। इस प्रकार यह निर्णयोपमा है।

टिप्पणी—विश्वनाथ आदि ने इनको निश्चय अलकार माना है—
"उपमेयस्य संशय्य निश्चयान्निश्चयोपमेति।"

यह मुख है या कमल है, इस प्रकार का उपमेय के विषय में सशय

के पश्चात् यथार्थ ज्ञान होने पर निश्चय अलकार होता है ।

शिशिरांशुप्रतिस्पर्द्धि श्रीमत् सुरभिगन्धि च ।
अम्भोजमिव ते वक्त्रमिति श्लेषोपमा स्मृता ॥२८॥

अर्थ—तुम्हारा मुख कमल के समान श्रीमत् (शोभा सम्पन्न, लक्ष्मी का निवासस्थान), सुरभिगन्धि (सुरभिमय श्वासयुक्त, सुगन्धियुक्त) और 'शिशिरांशुप्रतिस्पर्द्धि' चन्द्रमा का (प्रतिद्वन्द्वी चन्द्रमा का सहज प्रतिस्पर्द्धी) है।

सरूपशब्दवाच्यत्वात् सा समानोपमा यथा ।
बालेवोद्यानमालेय सालकाननशोभिनी ॥२९॥

अर्थ—समान रूप वाले (शब्द श्लेष द्वारा भिन्न होते हुए भी अभिन्न प्रतीत होते हुए) शब्दो द्वारा वाच्य समान-धर्म के प्रतिपादन के कारण वह समानोपमा होती है । यथा—(सा अलक आननशोभिनी अलको से सुशोभित मुख वाली) बाला के समान (साल काननशोभिनी साल वृक्षो के वन से सुशोभित यह) उद्यान-माला है ।

टिप्पणी—यद्यपि यहाँ उपमान-उपमेय-धर्म भिन्न है परन्तु फिर भी समान रूप वाले शब्दो के वाच्य के कारण समानता प्रतिभासित होती है । यदि यहाँ पर 'साल-कानन' के स्थान पर 'वृक्ष-कानन' कर दिया जाय तो श्लेष नही रहेगा । अत यहाँ पर शब्द-श्लेष-उपमा है ।

पद्म बहुरजश्चन्द्र. क्षयी ताभ्या तवाननम् ।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ॥३०॥

अर्थ—कमल अत्यन्त धूलिधूसरित है तथा चन्द्रमा क्षीणताशील है । तेरा मुख उन दोनो के समान होता हुआ भी उनसे बढकर है (क्योकि यह धूल से रक्षित निर्मल तथा शोभा से परिपूर्ण क्षयरहित है) । इस प्रकार यह निन्दोपमा कही गई है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत अलकार में उपमान की निन्दा का प्रदर्शन तथा उपमेय की उपमान से समता दिखाकर उत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है । अत यहाँ पर निन्दोपमा अलकार है । यहाँ अत्यन्त भेद तथा चमत्कार की प्रधानता का अभाव है अत व्यतिरेक अलकार नही । साम्यमात्र पर्य-

वसायी होने के कारण इसका व्यतिरेक से भेद है।

ब्रह्मणोऽप्युद्भव पद्मश्चन्द्र· शम्भुशिरोधृत. ।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशसोपमोच्यते ॥३१॥

अर्थ—कमल ब्रह्मा का भी, (जोकि सबका उत्पादक है) उत्पत्ति-स्थान है तथा चन्द्र (शशिलेखा के रूप मे) महादेव के सिर पर विराजता है (इस प्रकार ये दोनो ही महामहिमाशाली है)। ये दोनो तेरे मुख से समानता रखते है। इस प्रकार यह प्रशसोपमा कही जाती है।

टिप्पणी—यद्यपि प्रस्तुत उदाहरण में कमल तथा चन्द्र की मुख से साम्यता दिखाकर प्रशंसा की गई है परन्तु फिर भी मुख के उत्कर्ष की कुछ अधिक व्यजना होने के कारण यह प्रशसोपमा कही गई है।

यहाँ पर मुख की उपमेयत्व की प्रसिद्धि के उपरान्त भी उसकी उपमान रूप में कल्पना करने के कारण प्रतीप अलकार है

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥"

सा० द० ८७।१०

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाना या उसको निष्फल बनाना प्रतीप अलकार कहलाता है।

चन्द्रेण त्वन्मुख तुल्यमित्याचिख्यासु मे मन. ।
स गुणो वास्तु दोषो वेत्याचिख्यासोपमां विदु. ॥३२॥

अर्थ—मेरा मन यह कहना चाहता है कि तेरा मुख चन्द्रमा के समान है। इस प्रकार के कथन की अभिलाषा गुणयुक्त हो अथवा सदोष हो यह आचिख्यासोपमा जानी गयी है।

टिप्पणी—यहाँ पर अभिलाषा का इस प्रकार व्यक्त करना उपमेयभूत मुख की अतिशय चारुता को व्यजित करता है। अत यहाँ पर आचिख्यासोपमा है।

शतपत्र शरच्चन्द्रस्त्वदाननमिति त्रयम् ।
परस्परविरोधीति सा विरोधोपमा मता ॥३३॥

अर्थ—शतदल कमल, शरद् ऋतु का चन्द्र तथा तेरा मुख—ये तीनो परस्पर-विरोवी है। इस प्रकार यह विरोधोपमा स्वीकृत की गई है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में कमल, चन्द्र तथा मुख तीनो में परस्पर-विरोध वताया गया है। जिस समय कमल विकसित होता है उस समय चन्द्रमा मलिनता को प्राप्त होता है और चन्द्र के शोभित होने पर कमल सकुचित होता है। पर जिस समय मुख सुशोभित होता है उस समय कमल तथा चन्द्र दोनो ही मलिनता को प्राप्त हो जाते हैं। इस विरोध के साम्यपर्यवसायी होने के कारण यह विरोधोपमा है।

न जातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम्।
कलङ्किनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा ॥३४॥

अर्थ—कलकी तथा जड चन्द्रमा की कभी भी तेरे मुख से प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति नही है। इस प्रकार यह प्रतिषेधोपमा ही है।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमान का उपमेय के साथ सादृश्य के प्रतिपेध द्वारा उपमेय के उत्कर्ष को प्रकट करने के कारण प्रतिषेधोपमा है।

मृगेक्षणाङ्क ते वक्त्र मृगेणैवाङ्कित शशी।
तथापि सम एवासौ नोत्कर्षीति चटूपमा ॥३५॥

अर्थ—तेरा मुख केवल मृगनेत्र से अकित है (अर्थात् तुम्हारे नेत्र मृग के नेत्रो के समान सुशोभित हैं) पर चन्द्रमा तो सम्पूर्ण रूप से मृग से चिह्नित है तो भी यह चन्द्रमुख के समान ही है अधिक उत्कर्ष वाला नही। यह चटूपमा है।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रिय उक्ति के घटित होने के कारण चटूपमा होते हुए उत्कर्ष होने पर भी उसका प्रतिपादन न करने के कारण यहाँ विशेषोक्ति है, जैसा कि दर्पणकार का भी मत है.

"सतिहेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधेति"। सा० द०।१०।

हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेपोक्ति अलकार होता है।

न पद्म मुखमेवेद न भृङ्गौ चक्षुषी इमे।
इति विस्पष्टसादृश्यात् तत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥३६॥

अर्थ—यह कमल नही है मुख ही है, ये दोनो भौंरे नही हैं ये दो नेत्र हैं। इस प्रकार सादृश्य की स्पष्टता के कारण यह तत्त्वाख्यानोपमा ही है।

टिप्पणी—तत्त्वाख्यानोपमा में भ्रम रहते हुए निश्चय किया जाता है। परन्तु निर्णयोपमा में सशय रहते हुए निश्चय किया जाता है।

चन्द्रारविन्दयो कान्तिमतिक्रम्य मुख तव।
आत्मनैवाभवत् तुल्यमित्यसाधारणोपमा ॥३७॥

अर्थ—तुम्हारा मुख चन्द्र तथा कमल दोनो की कान्ति का अतिक्रमण करके अपने ही समान हो गया। यह असाधारणोपमा है।

टिप्पणी—मुख के लिए कमल तथा चन्द्र ही उपमान के रूप में प्रसिद्ध है। परन्तु इन दोनो के अतिक्रमण के कारण अन्य उपमान के अभाव में उपमेय की असाधारणता स्पष्ट है अत यहाँ असाधारणोपमा है। दर्पणकार ने इसको अनन्वय अलकार कहा है

"उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वय इति"। सा० द० १०

एक वाक्य में एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाने से अनन्वय अलकार होता है।

सर्वपद्मप्रभासार समाहृत इव क्वचित्।
त्वदाननं विभातीति तामभूतोपमा विदु ॥३८॥

अर्थ—तुम्हारा मुख किसी एक स्थान पर पुजीभूत सभी कमलो के कातिपुज के समान सुशोभित हो रहा है। इस प्रकार की यह अभूतोपमा जानी गयी है।

टिप्पणी—वस्तुत अविद्यमान पर कवि-प्रतिभा के द्वारा निष्पादित धर्म का जहाँ वर्णन होता है वहाँ अभूतोपमा होती है। यथार्थत कमलो की कातिपुज का समाहार असम्भव है पर उपमेय के उत्कर्ष की व्यजना के लिए ही इस प्रकार का वर्णन किया जाता है। साहित्य दर्पणकार ने इसको उत्प्रेक्षालकार कहा है। यथा

"भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना" ।सा०द० ।१०

किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में सभावना करने को

उत्प्रेक्षा कहते हैं।

चन्द्रबिम्बादिव विष चन्दनादिव पावक.।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसम्भावितोपमा ॥३९॥

अर्थ—इस मुख से कठोर वाणी का निकलना चन्द्रबिम्ब से विष के तथा चन्दन से अग्नि निकलने के समान (असम्भव) है। यह असम्भावितोपमा है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में उपमानभूत चन्द्र तथा चन्दन से विष तथा अग्नि का निकलना जिस प्रकार असम्भव है उसी प्रकार मुख से परुषा वाणी का निकलना असम्भव है। अत यहाँ पर असम्भावितोपमा स्पष्ट है।

चन्दनोदकचन्द्रांशुचन्द्रकान्तादिशीतल ।
स्पर्शस्तवेत्यतिशय बोधयन्ती बहूपमा ॥४०॥

अर्थ—तेरा स्पर्श चन्दन-जल (अथवा चन्दन तथा जल) चन्द्रकिरण तथा चन्द्रकान्तमणि आदि के समान शीतल है। इस प्रकार यह उपमानो में प्रस्तुत शीतलता के गुणातिशय को प्रकट करने वाली बहूपमा है।

टिप्पणी—एक उपमेय को कई उपमानो के द्वारा समता करके उत्कर्ष विधान करना बहूपमा कहलाती है। जिस प्रकार बहुत से मधुर रसो के मेल से अत्यधिक मधुरता की वृद्धि होती है उसी प्रकार बहुत से उपमानो के द्वारा उपमेय-धर्म की चारुता प्रकट होती है। दर्पणकार ने इसे मालोपमा कहा है। यथा

"मालोपमा यदेकस्योपमान बहु दृश्यते।"

जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान हो वहाँ मालोपमा होती है।

चन्द्रबिम्बादिवोत्कीर्णं पद्मगर्भादिवोद्धृतम्।
तव तन्वङ्गि! वदनमित्यसौ विक्रियोपमा ॥४१॥

अर्थ—हे कृशांगी! तेरा मुख चन्द्रबिम्ब से निर्मित या कमल के मध्य से नि सृत हुए के समान है। यह विक्रियोपमा है।

टिप्पणी—जहाँ पर उपमान-विकारजन्य उपमेय की तुलना प्रस्तुत की जाती है वहाँ विक्रियोपमा होती है ।

पूष्ण्यातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासर. ।
विक्रमस्त्वय्यघाल्लक्ष्मीमिति मालोपमा नता ॥४२॥

अर्थ—जिस प्रकार तेज सूर्य को, सूर्य दिवस को और दिवस आकाश को प्रकाश देता है उसी प्रकार पराक्रम ने तुझमें लक्ष्मी को निहित किया है । यह मालोपमा स्वीकृत की गई है ।

टिप्पणी—जैसे एक पुष्प का दूसरे पुष्प से योग होता है, उसी प्रकार मालोपमा में भी उपमानो का परस्पर-सम्वन्ध होता है । वहूपमा में केवल उपमानो का वाहुल्य होता है परन्तु मालोपमा में पूर्व का उत्तर के साथ सम्वन्ध होता है ।

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थ. कोऽपि यद्युपमीयते ।
एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा ॥४३॥

अर्थ—जव किसी भी वाक्य के अर्थ से यदि किसी वाक्य के अर्थ की उपमा प्रस्तुत की जाती है तव एक और अनेक 'इव' शब्द के प्रयोग के कारण वाक्यार्थोपमा दो प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत अलकार के 'इव' शब्द के प्रयोग के कारण दो भेद वताये गये हैं—एक-वाक्यार्थोपमा तथा अनेक-वाक्यार्थोपमा । जहाँ पर वाक्य में स्थित प्रत्येक पदार्थ की समता की इच्छा से प्रत्येक उपमान के सामने 'इव' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता होती है वहाँ पर अनेक-वाक्यार्थोपमा होती है । पर जहाँ एक 'इव' के प्रयोग से ही वाद के उपमानो के लिए प्रतीति हो जाती है वहाँ एक-वाक्यार्थोपमा होती है ।

त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति ।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसर भाति पङ्कजम् ॥४४॥

एक-वाक्यार्थोपमा का उदाहरण .

अर्थ—चचल चक्षुओ से युक्त तथा दातो से आविर्भूत होती हुई कान्ति की किरणो को प्रकट करता हुआ तुम्हारा मुख मँडराते हुए भौंरे

से युक्त तथा किंचित् पराग प्रकट करते हुए कमल के समान सुशोभित हो रहा है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध वाक्य की उत्तरार्द्ध वाक्य के एक 'इव' से ही उपमा दी गई है। अत यहाँ एक-वाक्यार्थोपमा हुई।

नलिन्या इव तन्वङ्ग्यास्तस्या पद्ममिवाननम्।
मया मधुव्रतेनेव पाय पायमरम्यत ॥४५॥

अनेक-वाक्यार्थोपमा का उदाहरण—

अर्थ—पद्मलता के समान इस कृशांगी के कमल के समान मुख का भ्रमर के समान मैं बार-बार पान करके रुक गया।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रत्येक उपमान के साथ 'इव' शब्द का प्रयोग है। अत यहाँ अनेक-वाक्यार्थोपमा है।

वस्तु किञ्चिदुपन्यस्य न्यसनात् तत्सधर्मण·।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ॥४६॥

अर्थ—किसी वस्तु का प्रतिपादन करके उसके समान धर्मवाली वस्तु का वर्णन प्रस्तुत करने से ('इव' आदि शब्द के अभाव में भी) जहाँ समता का बोध होता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है।

टिप्पणी—दर्पणकार ने इस अलकार को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है। यथा

"प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययो।
एकोऽपि धर्म सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥"

जिन दो वाक्यार्थों में सादृश्य प्रतीयमान होता हो उनमें यदि एक ही साधारण धर्म को पृथक्-पृथक् शब्दो से कहा जाय तो प्रतिवस्तूपमा अलकार होता है।

नैकोऽपि त्वादृशोऽद्यापि जायमानेषु राजसु।
ननु द्वितीयो नास्त्येव पारिजातस्य पादप ॥४७॥

अर्थ—उत्पन्न होते हुए राजाओ के मध्य में आज तुम्हारे जैसा एक भी नही हुआ। निश्चय से पारिजात का दूसरा वृक्ष ही नही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में (समान नही है तथा दूसरा नही है) इस समान धर्म का पुनरुक्ति के भय से शब्दान्तर से वर्ण्न प्रस्तुत किया गया है। दर्पणकार ने समान धर्म से भिन्न विपरीत धर्म का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है।

अधिकेन समीकृत्य हीनमेकक्रियाविधौ ।
यद्ब्रुवन्ति स्मृता सेय तुल्ययोगोपमा यथा ॥४८॥

अर्थ—समान क्रिया के अनुष्ठान मे न्यून गुणवाली वस्तु की अधिक गुणवाली वस्तु से समानता प्रस्तुत करके जो कथन किया जाता है वह तुल्ययोगोपमा कहलाती है।

टिप्पणी—सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की समता के कथन को तुल्ययोगोपमा कहते हैं। तुल्ययोगिता से भेद करने के लिए इसी परिच्छेद का २३०वाँ श्लोक देखिए।

दिवो जागर्ति रक्षायै पुलोमारिर्भुवो भवान् ।
असुरास्तेन हन्यन्ते सावलेपास्त्वया नृपा. ॥४६॥

अर्थ—पुलोमा का शत्रु अर्थात् इन्द्र स्वर्ग की रक्षा के लिए जागता है और आप पृथ्वी की रक्षा के लिए जागते है। उससे राक्षसो का विनाश तथा आपके द्वारा गर्वित राजाओ का सहार किया जाता है।

टिप्पणी—यहाँ पर हीन गुण वाले प्रस्तुत रूप राजा की उच्च गुण वाले अप्रस्तुत इन्द्र से समता प्रकट करके समान-धर्म का कथन किया गया है। अत. यहाँ तुल्ययोगोपमा है।

कान्त्या चन्द्रमस धाम्ना सूर्य्यं धैर्येण चार्णवम् ।
राजन्ननुकरोषीति सैषा हेतूपमा मता ॥५०॥

अर्थ—हे राजन्! आपने कान्ति के कारण चन्द्रमा का, तेज के कारण सूर्य का तथा धैर्य के कारण समुद्र का अनुकरण किया है। इस प्रकार की यह हेतूपमा कही गयी है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में हेतुओ का उल्लेख स्पष्ट ही है अत. यहाँ हेतूपमा है।

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
उपमादूषणायाल यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।।५१।।

अर्थ—जब तक बुद्धिमानो अथवा सामाजिको की लिंग तथा वचन की भिन्नता व पद की न्यूनता और अधिकता (अर्थात् पद का कम होना अथवा पद का ज्यादा होना) उद्वेगजनक नही होती तब तक उपमा दोष-युक्त नही होती अर्थात् उपमा में इस प्रकार के प्रयोगो का होना दोष-रूप में नही ग्रहण किया जाता ।

टिप्पणी—प्राचीन विद्वानो ने उपमागत दोषो की सख्या सात मानी है । भामह ने भी सात उपमा दोष गिनाये हैं ।

स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽय वक्त्येषा स्त्री पुमानिव ।
प्राणा इव प्रियोऽय मे विद्या धनमिवार्जिता ।।५२।।

अर्थ—(यहाँ लिंग तथा वचन-भिन्नता की निर्दोषता दिखाते हैं) 'यह नपुसक स्त्री के समान चलता है' । 'यह स्त्री पुरुष के समान बोलती है' । 'यह (मनुष्य) मुझे प्राणों के समान प्रिय है' । 'विद्या धन के समान अर्जित की गई' ।

टिप्पणी—यहाँ भिन्न लिंग तथा भिन्न वचन की निर्दोषता दिखाई है । उपर्युक्त प्रथम दो वाक्यो में जाने तथा बोलने की क्रिया के साधारण धर्म होने के कारण भिन्न लिंगो में अन्वय के कारण भिन्न-लिंग-दोष नही है । इसी प्रकार अगले दो वाक्यो में भी अन्वय-योग्य क्रिया के कारण वचन-भेद होने पर भी दोष नही है । इस प्रकार ये दोष सहृदय सामाजिको के लिए उद्वेगजनक नही होते ।

भवानिव महीपाल ! देवराजो विराजते ।
अलमशुमत. कक्षामारोढु तेजसा नृप ।।५३।।

अर्थ—हे राजन् ! देवराज इन्द्र आपके समान शोभायमान हैं । राजा तेज के कारण सूर्य की कक्षा में अर्थात् समानता में स्थित रहने योग्य है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरणो में राजा की न्यूनता तथा सूर्य की उत्कर्षता स्पष्ट ही है । पर यह होते हुए भी शोभा में कुछ कमी नहीं आती ।

अत यहाँ पर दोप की अभावता स्वतः स्पष्ट है।

इत्येवमादौ सौभाग्य न जहात्येव जातुचित्।

अस्त्येव क्वचिदुद्वेग प्रयोगे वाग्विदा यथा ॥५४॥

अर्थ—इस प्रकार के प्रयोगो में कभी-कभी वैचिश्य-सौंदर्य का अभाव नही रहता। पर कुछ प्रयोगो में साहित्य-मर्मज्ञो को व्याघात होता ही है। यथा

हंसीव धवलश्चन्द्र सरासीवामल नभ ।

स्वामिभक्तो भट श्वेव खद्योतो भाति भानुवत् ॥५५॥

अर्थ—चन्द्रमा हसी के समान शुभ्र है तथा आकाश तालाबो के समान निर्मल है। सैनिक कुत्ते के समान स्वामिभक्त है तथा जुगनू सूर्य के समान चमकता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में क्रमानुसार (चन्द्र तथा हसी में) लिंग-भेद, (तालावो तथा आकाश में) वचन-भेद (सैनिक तथा कुत्ते में) न्यूनता तथा (जुगनू तथा सूर्य में) अधिकता—ये दोप साहित्य-मर्मज्ञो के लिए व्याघात उत्पन्न करने वाले होते हैं।

ईदृश वर्ज्यंते सद्भि. कारण तत्र चिन्त्यताम्।

गुणदोषविचाराय स्वयमेव मनीषिभि. ॥५६॥

अर्थ—विद्वानों द्वारा इस प्रकार के प्रयोग अथवा काव्य-समादृत नही होते। मनीपियो को इसका कारण स्वय ही (उपमा के) गुण-दोषो पर विचार करके समझना चाहिए।

टिप्पणी—आचार्य दडी ने विस्तारभय के कारण कुछ दोषो का निरूपण करके दोप-निरीक्षण की पद्धति प्रदर्शित कर दी है। इस पद्धति के द्वारा विद्वानो को दोपो का निरीक्षण करना चाहिए।

(उपमा की प्रतीति अभिघा, लक्षणा, व्यजना के द्वारा होती है अतः उसके 'इव' आदि वाचक शब्दो का यहाँ निरूपण करते हैं।)

इववद्वाययाशब्दा समाननिभसन्निभा ।

तुल्यसकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपका ॥५७॥

अर्थ—उपमा के लिए ये समतावाचक शब्द कहे गये हैं

इव, वत्, वा, यथा, समान, निभ, सनिभ (एकसा), तुल्य, सकाश, (सदृश), नीकाश (एक समान), प्रकाश, प्रतिरूपक ।

प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिन ।
सदृक्सदृशसवादिसजातीयानुवादिन ॥५८॥

अर्थ—प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्वी, प्रत्यनीक (विरोधयोग्य), विरोधी, सदृक्, सदृश, सवादी (समान), सजातीय, अनुवादी ।

प्रतिविम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमसम्मिता ।
सलक्षणसदृक्षाभसपक्षोपमितोपमा ॥५६॥

अर्थ—प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छन्द (मूर्तिवत्), सरूप, सम, समित, सलक्षण, सदृक्षाभ (एक-रूप), सपक्ष, उपमित, उपमा ।

कल्पदेशीयदेश्यादि प्रख्यप्रतिनिधी अपि ।
सवर्णतुलितौ शब्दौ ये चान्यूनार्थवादिन ॥६०॥

अर्थ—कल्प (पास), देशीय (सीमा के पास), देश्य (सीमा पर), आदि प्रख्य (उसी नाम का) प्रतिनिधि, भी, सवर्ण, तुलित (तोल में बराबर), और अन्य इस प्रकार के समानार्थवाचक शब्द ।

समासश्च बहुव्रीहि शशाकवदनादिषु ।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ॥६१॥

अर्थ—चन्द्रमुखी (शशाक इव वदन यस्या) आदि बहुव्रीहि तथा पुरुष-व्याघ्र, (व्याघ्र इव पुरुष) आदि कर्मधारय समासो में उपमा-वाचक 'इव' शब्द लुप्त है। (सादृश्यवाचक अन्य शब्द ये हैं)—स्पर्धा करता है, जीतता है, द्वेष करता है, द्रोह करता है, प्रतिस्पर्धा करता है ।

आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति ।
विडम्बयति सन्धत्ते हसतीर्ष्यत्यसूयति ॥६२॥

अर्थ—छोटा समझता है, घृणा करता है, कष्ट देता है, निन्दा करता है, विडम्बना देता है, सधि करता है, हँसता है, ईर्ष्या करता है, डाह करता है ।

तस्य मुष्णाति सौभाग्य तस्य कान्ति विलुम्पति ।
तेन सार्धं विगृह्णाति तुला तेनाधिरोहति ।।६३।।

अर्थ—उसके सौभाग्य का हरण करता है, उसकी काति को नष्ट करता है, उसके साथ झगडता है, उसके साथ तुला (तराजू) पर चढता है।

तत्पदव्या पद धत्ते तस्य कक्षा विगाहते ।
तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छील तन्निषेधति ।।६४।।

अर्थ—उसके पद पर पैर रखता है, उसकी कक्षा में ठहरता है, उसका अनुसरण करता है, उसके शील को प्राप्त करता है, उसका निषेध करता है।

तस्य चानुकरोतीति शब्दा सादृश्यसूचका ।
उपमायामिमे प्रोक्ता कवीना बुद्धिसौख्यदा ।।६५।।

अर्थ—उसका अनुकरण करता है इत्यादि शब्द समानता को सूचित करते हैं। कवियो की बुद्धि को सुख देनेवाले इन शब्दो का उपमा के अन्तर्गत कथन किया गया है।

[रूपक]

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।
यथा बाहुलता पाणिपद्म चरणपल्लव ।।६६।।

अर्थ—जिसमें प्रकृत तथा अप्रकृत का विशेष ज्ञान अन्तर्भूत अथवा तिरोहित हो गया है इस प्रकार की उपमा ही रूपक कही जाती है। जैसे—बाहुलता, पाणिपद्म, चरणपल्लव।

टिप्पणी—उपमान उपमेय के अभेद की प्रतीतिपूर्वक समता के विधान को रूपक कहते हैं। परन्तु उपमा में तो अभेद की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार यह रूपक तथा उपमा में भेद है। प्रस्तुत उदाहरणो में 'बाहुलता' (हाथ ही लता है), 'पाणिपद्म' (हस्त ही कमल है), 'चरणपल्लव' (पैर ही पल्लव है) उपमान तथा उपमेय में अभिन्नता प्रकट की गई है। परन्तु अभिन्नता के कथन होने पर भी उपमान की प्रधानता है। जहाँ उपमान में साधर्म्य मुख्यतया स्थित होगा वहाँ रूपक और जहाँ उपमेय में साधर्म्य

की मुख्यता होगी वहाँ उपमा की प्रधानता होगी। यथा 'मुख चन्द्र का चुम्बन करता है' यहाँ चुम्बन-रूप धर्म की उपमेय अर्थात् मुख में स्थिति है। अत यहाँ उपमा अलकार हुआ। परन्तु 'मुख-चन्द्र प्रकाशित होता है' यहाँ प्रकाशित होना धर्म उपमान की विशेषता है अत यहाँ रूपक अलकार है।

अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिष ।
बाहू लते वसन्तश्रीस्त्व न प्रत्यक्षचारिणी ॥६७॥

अर्थ—तुम हमारे सामने प्रत्यक्ष सचरण करती हुई वसन्त शोभा हो। (तुम्हारी) अगुलियाँ पल्लव हैं, नखो की आभा पुष्प है तथा भुजाएँ दो लताएं (वेल) है।

टिप्पणी—यहाँ पर लिग-भेद के प्रदर्शन के द्वारा यह सूचित किया गया है कि रूपक में लिग-भेद दोषरूप में अभिहित नही किया जाता। यहाँ व्यस्तरूपक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

इत्येतदसमस्ताख्य समस्त पूर्वरूपकम् ।
स्मित मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम् ॥६८॥

अर्थ—('अँगुलियाँ पल्लव हैं' इत्यादि) असमस्त रूपक है। ('बाहुलता' आदि) पूर्वकथित समस्त रूपक है। मुख-चन्द्र की मुस्कराहट (मृदुल हास्य) ही ज्योत्स्ना (चाँदनी) है यह समस्तव्यस्तरूपक है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'मुख इन्दु' समस्त रूपक तथा 'स्मित ज्योत्स्ना' व्यस्त रूपक है। अत यह सम्पूर्ण समस्तव्यस्तरूपक है।

ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम् ।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपकजम् ॥६९॥

अर्थ—लाल अगुलियाँ पत्र पक्तियाँ है तथा नख-किरणें पराग हैं। (इस प्रकार का) आपका चरण-कमल राजाओ द्वारा अपने मस्तको पर आधृत किया जाता है।

अङ्गुल्यादौ दलादित्व पादे चारोप्य पद्मताम् ।
तद्योग्यस्थानविन्यासादेतत् सकलरूपकम् ॥७०॥

अर्थ—अगुलि आदि में पत्र-पक्ति आदि का तथा चरण में कमल का आरोप करके कमल के अनुरूप स्थान (सिर) पर धारण करने से यह सम्पूर्ण रूपक हुआ।

टिप्पणी—इस प्रकार आचार्य दडी के मतानुसार यहाँ सकलरूपक है। पर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इस सकलरूपक को सागरूपक नाम से व्यवहृत किया है। यथा .

"अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ।"—विश्वनाथ

यदि अगी के सब अगो का रूपण किया जाय तो साङ्गरूपक होता है।

अकस्मादेव ते चण्डि ! स्फुरिताधरपल्लवम् ।
मुख मुक्तारुचो ! धत्ते घर्माम्भ कणमञ्जरीः ॥७१॥

अर्थ—हे चडी ! सहसा ही तुम्हारा कम्पित होता हुआ अधर-पल्लव युक्त मुख मोती से चमकते हुए स्वेद-जलकण रूपी मजरी को धारण कर रहा है।

मञ्जरीकृत्य घर्माम्भ पल्लवीकृत्य चाधरम् ।
नान्यथाकृतमत्रास्यमतोऽवयवरूपकम् ॥७२॥

अर्थ—प्रस्तुत प्रसग में स्वेदजलकण का मजरी के रूप में तथा अधर का पल्लव-रूप में आरोप करके मुख पर पद्म का आरोप नही किया है अर्थात् मुख की पद्म से अभिन्नता प्रकट नही की है, अतः यहाँ अवयवरूपक है।

टिप्पणी—साहित्यदर्पणकार ने इसीको ही एक-देश-विवर्त्तिरूपक कहा है:

"यत्र कस्यचिदार्यत्वनेकदेशविवर्त्ति तदिति ।"—साहित्यदर्पण

जहाँ आरोप्यमाणो में से कोई अर्थ वल से लभ्य हो, सबका शब्द से कथन न हो, वहाँ एक-देश-विवर्त्तिरूपक होता है।

वल्गितभ्रू गलद्घर्मजलमालोहितेक्षणम् ।
विवृणोति मदावस्थामिदं वदनपङ्कजम् ॥७३॥

अर्थ—चचल भौंहे, गिरते हुए स्वेद-जलकण तथा पूर्ण लाल नेत्र-युक्त यह मुख-कमल (मद्य-सेवन के कारण हुई) मदमस्त अवस्था का

प्रकाशन कर रहा है।

अविकृत्य मुखाङ्गानि मुखमेवारविन्दताम् ।
आसीद्गमितमत्रेदमतोऽवयविरूपकम् ॥७४॥

अर्थ—यहाँ पर 'मुख' के विभिन्न अगो का 'कमल' के अन्य अगो में आरोप न करके केवल 'मुख' का ही 'कमल' में आरोप किया गया है। इस प्रकार यह अवयविरूपक हुआ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में अवयवि 'मुख' का ही कमल-रूप में आरोप के कारण यह अवयविरूपक हुआ। दर्पणकार के मत में यह निरग-रूपक हुआ। यत यहाँ पर अवयवि (मुख) के अवयवो का निर्देश किया गया है। परन्तु आरोपित अवयवि (कमल) के अवयवो का निर्देश नही किया गया। निरग के विषय में तो अवयवि के आरोप भी निर्दिष्ट नही किये जाते। अत यह एकदेशवर्ति-निरग का भेद है।

मदपाटलगण्डेन रक्तनेत्रोत्पलेन ते ।
मुखेन मुग्ध सोऽप्येष जनो रागमय कृत ॥७५॥

अर्थ—यह पुरुष भी तेरे मद्यपान के कारण लाल कपोल और लाल नेत्र कमल से युक्त मुख से मुग्ध हुआ हुआ रागमय (अर्थात् अनुरागपूर्ण या लाल वर्ण-युक्त) कर दिया गया।

एकाङ्गरूपक चैतदेव द्विप्रभृतीन्यपि ।
अङ्गानि रूपयन्त्यत्र योगायोगौ भिदाकरौ ॥७६॥

अर्थ—(लाल नेत्र-कमल) यह केवल (एकाग के ही आरोप के कारण) एकाग रूपक हुआ। इसी प्रकार दो या उससे अधिक अगो पर भी आरोप किया जाता है जिसमें द्वयङ्ग या त्र्यग रूपक होते हैं। यहाँ द्वयङ्ग या त्र्यग आदि रूपको में परस्पर थोडा भेद होने से युक्त और अयुक्त रूपक ये दो भेद होते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में युक्त और अयुक्त ये दो रूपक-भेद वतलाये गये हैं। जहाँ पर आरोप्यमाण वस्तुएँ परस्पर युक्त अर्थात् सवधित होगी वहाँ युक्त और जहाँ परस्पर असवधित होगी वहाँ अयुक्त

रूपक जानना चाहिए।

स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृङ्गमिदं मुखम्।
इति पुष्पद्विरेफाणां सङ्गत्या युक्तरूपकम् ॥७७॥

अर्थ—यह मन्द मुसकान-रूपी पुष्प से उज्ज्वल तथा चचल नेत्र रूपी भौंरो से युक्त मुख (शोभित होता) है। इस प्रकार पुष्प तथा भौंरो के मुख के अवयव रूप मुस्कराहट तथा नेत्र पर आरोपित होने से परस्पर सगतियुक्त होने पर यह युक्तरूपक हुआ।

इदमार्द्रस्मितज्योत्स्नं स्निग्धनेत्रोत्पलं मुखम्।
इति ज्योत्स्नोत्पलायोगादयुक्तं नाम रूपकम् ॥७८॥

अर्थ—यह चन्द्र-ज्योत्स्ना रूपी मन्द मुसकान तथा कमल-रूपी सस्नेह नेत्रो से युक्त मुख है। इस प्रकार आरोप-विषयी चन्द्रिका तथा कमल के परस्पर-विरोधी तथा असबधित होने के कारण यहाँ अयुक्त-रूपक है।

टिप्पणी—इससे पूर्व के पद्य में पुष्प तथा भ्रमर की सगति ठीक बैठ जाती है। वे परस्पर सबधित है। परन्तु यहाँ पर चन्द्रिका तथा कमल परस्पर असबधित है। चन्द्रिका के होने पर कमल मुंद जाता है तथा कमल के विकसित होने पर चन्द्रिका का अभाव रहता है। इस प्रकार दोनो में असगति है। अत यहाँ पर अयुक्तरूपक स्पष्ट है।

रूपणादङ्गिनोऽङ्गाना रूपणारूपणाश्रयात्।
रूपकं विषमं नाम ललितं जायते यथा ॥७९॥

अर्थ—(प्रधान) अगी पर आरोप हो तथा (अप्रधान) अगो पर आरोप अथवा अनारोप हो अर्थात् अगो में किसी अग पर तो आरोप हो पर किसी पर न हो, वहाँ पर वैचित्र्यजनक विषम नामक रूपक होता है। यथा—

मदरक्तकपोलेन मन्मथस्त्वन्मुखेन्दुना।
नर्तितभ्रूलतेनालं मर्दितुं भुवनत्रयम् ॥८०॥

अर्थ—कामदेव तेरे मदपान द्वारा लाल कपोलो तथा चचल भ्रूलताओ से युक्त मुख-चन्द्र द्वारा तीनों लोकों को विजय करने में समर्थ है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में अगी अर्थात् मुख पर चन्द्र का आरोप है। अगभूत कपोलो पर किसी का आरोप नही पर अन्य अग भ्रू (भौंह) पर लताओ का आरोप है। अत यहाँ पर वैचित्र्यजनक विपम नामक रूपक पूर्णत घटित होता है।

हरिपाद. शिरोलग्नजह्नुकन्याजलाशुकः ।
जयत्यसुरनि शकसुरानन्दोत्सवध्वज ॥८१॥

अर्थ—असुरो से नि शक हुए देवताओ के आनन्दोत्सव के ध्वज-दड रूपी श्रीविष्णु-चरण की जय हो, जिसके अग्रभाग से जाह्नवी की जल-रूपी ध्वजा निकल रही है।

विशेषणसमग्रस्य रूप केतोर्यदीदृशम् ।
पादे तदर्पणादेतत् सविशेषणरूपकम् ॥८२॥

अर्थ—('शिरोलग्न' इत्यादि) विशेषण से युक्त (असुरो से नि शक हुए देवताओ के आनन्दोत्सव की) पताका का जो इस प्रकार का विशेपण विशिष्ट स्वरूप है, उसका चरण पर आरोप करने से सविशेपण रूपक हुआ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में गगा के जल के वस्त्र-रूप में आरोपित रूपक से युक्त विशेषण-सहित दड-युक्त ध्वजा के स्वरूप का चरण पर आरोप किया गया है।

न मीलयति पद्मानि न नभोऽप्यवगाहते ।
त्वन्मुखेन्दुर्ममासूना हरणायैव कल्पते ॥८३॥

अर्थ—तुम्हारा मुख-चन्द्र न कमलो को बन्द करता है और न आकाश में ही अवगाहन करता है। यह तो केवल मेरे प्राणो का हरण करने के लिए यत्न करता है।

अक्रिया चन्द्रकार्याणामन्यकार्यस्य च क्रिया ।
अत्र सन्दर्श्यते यस्माद्विरुद्ध नाम रूपकम् ॥८४॥

अर्थ—चन्द्रमा के (कमलो को सकोच करना तथा आकाश में स्थित होना आदि) कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा (प्राणो का हरण करना

आदि) अन्य कार्य का करना यहाँ पर जो प्रदर्शित किया गया है, (इस कारण से यह विरुद्ध नामक रूपक है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में रूपक के अन्तर्गत उपमेय (मुख) के उपमान (चन्द्र) से अभिन्न होने के कारण उपमेय को उपमान के कार्यों का ही अनुसरण करना चाहिए। उसके प्रतिकूल कार्य करने के कारण यह विरुद्ध रूपक है।

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वत·।
कामदत्वाच्च लोकानामसि त्व कल्पपादप ॥८५॥

अर्थ—तुम गम्भीरता के कारण समुद्र हो, गौरव के कारण पर्वत हो तथा मनुष्यो की कामनाओ को पूर्ण करने से तुम कल्पवृक्ष हो।

गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभि सागरो गिरि।
कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम् ॥८६॥

अर्थ—यहाँ पर गम्भीरता, गौरवता आदि प्रमुख हेतुओ के कारण (उपमेय में) सागर पर्वत तथा कल्पवृक्ष का आरोप किया गया है। इस कारण हेतु-युक्त आरोप के निरूपण द्वारा यह हेतु-रूपक हुआ।

टिप्पणी—साहित्यदर्पणकार के मत में यह उल्लेख अलकार भी है। विश्वनाथ ने उल्लेख की परिभाषा इस प्रकार की है

"एकस्यानेकधोल्लेख. य स उल्लेख उच्यते।"

एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख करना उल्लेखालकार कहलाता है।

यहाँ पर प्रस्तुत विषय राजा के गाभीर्य आदि विषय-भेद से अनेक प्रकार से वर्णन करने को 'उल्लेख अलकार' कहा है। परन्तु जहाँ कारण-रहित स्थल पर विविध प्रकार से आरोप के द्वारा वर्णन किया जाता है वहाँ उल्लेख और जहाँ कारण सहित विविध प्रकार से आरोप के द्वारा वर्णन किया जाता है वहाँ हेतुरूपक कहलाता है। दोनो में यह भेद है जो सामान्यतया सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। अत यहाँ पर हेतुरूपक स्पष्ट ही है।

राजहलोपभोगार्हं भ्रमरप्रार्थ्यसौरभम् ।
सखि ! वक्त्राम्बुजमिद तवेति श्लिष्टरूपकम् ॥८७॥

अर्थ—हे सखी ! तुम्हारा यह मुख-कमल राजहसो (श्रेष्ठ राजाओ, हस-विशेष) के द्वारा उपभोग्य है तथा इसकी सुगन्ध भौंरो (भौंरे, कामीजन) द्वारा स्पृहणीय है । यह श्लिष्टरूपक है ।

टिप्पणी—कमल के धर्मों का मुख के धर्मों के समान होने से उसमें श्लेषयुक्त आरोप होने के कारण यहाँ श्लिष्टरूपक स्पष्ट है ।

इष्ट साधर्म्यवैधर्म्यदर्शनाद्गौणमुख्ययो ।
उपमाव्यतिरेकाख्य रूपकद्वितय यथा ॥८८॥

अर्थ—(गुण के योग से आरोप्यमाण चन्द्र आदि) गौण और (मुख आदि प्रधान) मुख्य में, समान धर्म के दिखलाने से उपमा रूपक तथा असमान धर्म के दिखलाने से व्यतिरेक नामक दूसरा रूपक होता है, जैसे—

अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमा. ।
सन्नद्धोदयरागस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति ॥८९॥

अर्थ—यह मद्यपान के कारण लाल कान्ति वाला मुख-चन्द्रमा, समुज्ज्वल उदीयमान लालिमा से युक्त चन्द्र से प्रतिस्पर्धा करता है ।

टिप्पणी—इस प्रकार यहाँ चन्द्रमा से अभिन्नता के कारण आरोपविषयी मुख के उपमासूचक प्रतिस्पर्धा-रूप समान धर्म के कथन के कारण यह उपमारूपक हुआ ।

चन्द्रमा पीयते देवैर्मया त्वन्मुखचन्द्रमा ।
असमग्रोऽप्यसौ शश्वदयमापूर्णमण्डल ॥९०॥

अर्थ – देवताओ के द्वारा यह असम्पूर्ण चन्द्रमा भी और मुझसे तेरा पूर्ण मडलयुक्त मुख-चन्द्रमा सर्वदा पान किया जाता है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत प्रसग में प्रधान (अपूर्ण चन्द्रमा) का अप्रधान अथवा गौण (पूर्ण मुखचन्द्र) से असम्पूर्णत्व तथा सम्पूर्णत्व रूप विपरीत धर्म का प्रदर्शन किया गया है । अत यहाँ पर व्यतिरेक रूपक हुआ । वैसे भी व्यतिरेक अलकार में उपमेय के उत्कर्ष की उपमान के उत्कर्ष से कुछ

अधिक व्यञ्जना की जाती है।

मुखचन्द्रस्य चन्द्रत्वमित्यमन्योपतापिनः।
न ते सुन्दरि! सवादीत्येतदाक्षेपरूपकम् ॥९१॥

अर्थ—हे सुन्दरी! इस प्रकार दूसरो (कमल अथवा विरह-सतप्त मनुष्यो) को सताप देने वाले (चन्द्र का) चन्द्रत्व तेरे मुखचन्द्र के अनुरूप नही। इस प्रकार यह आक्षेपरूपक हुआ।

टिप्पणी—चन्द्र का परपीडन तथा मुखचन्द्र का सबको प्रसन्न करना प्रसिद्ध ही है। यहाँ पर उपमानभूत चन्द्र की दूसरो को सताप देने के कारण निन्दा प्रकट की गई है। अत यहाँ स्पष्ट ही आक्षेपरूपक है।

मुखेन्दुरपि ते चण्डि! मा निर्दहति निर्दयम्।
भाग्यदोषान्ममैवेति तत् समाधानरूपकम् ॥९२॥

अर्थ—हे चडी! मेरे ही भाग्यदोष के कारण तेरा मुखचन्द्र भी मुझको निर्दयतापूर्वक सतप्त कर रहा है। इस प्रकार यह समाधानरूपक है।

टिप्पणी—प्रस्तुत प्रसग मे भाग्य-दोष-रूप कारण के कथन द्वारा स्वय समाधान उपस्थित करने से यहाँ समाधानरूपक स्पष्ट है।

मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन् भ्रूलतानर्तकी तव।
लीलानृत्य करोतीति रम्य रूपकरूपकम् ॥९३॥

अर्थ—तुम्हारी भ्रूलता रूपी नर्तकी मुख-कमल रूपी नृत्यशाला में विलास-नृत्य कर रही है। यह मनोहर रूपकरूपक है।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम मुख पर कमल का आरोप किया गया है तदनन्तर मुख-कमल पर रगशाला का आरोप किया गया है। इसी प्रकार भौंह पर लता का तथा भ्रूलता पर नर्तकी का आरोप किया गया है। इस प्रकार का आरोप समास में ही सम्भव है। यह रूपकरूपक है अर्थात् इसमें एक रूपक पर दूसरे रूपक का आरोप किया गया है।

नैतन्मुखमिद पद्म न नेत्रे भ्रमराविमौ।
एतानि केसराण्येव नैता दन्तार्चिषस्तव ॥९४॥

अर्थ—यह तुम्हारा मुख नही, यह कमल है। ये तुम्हारे दो नेत्र नहीं

ये दो भौंरे हैं। ये तुम्हारी दांतो की किरणें नही य पराग ही हैं।

मुखादित्व निवर्त्यैव पद्मादित्वेन रूपणात्।
उद्भावितगुणोत्कर्षं तत्त्वापह्नवरूपकम् ॥६५॥

अर्थ—(यहाँ पर) मुख आदि का निषेध करके ही पद्म आदि के आरोप से (उपमेयगत) गुण के उत्कर्ष की उद्भावना की गई है। यह तत्त्वापह्नवरूपक है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रस्तुत यथार्थ रूप मुख आदि का गोपन करके अप्रस्तुत कमल आदि का आरोप किया गया है। साहित्य-दपणकार ने इसी को ही अपह्नुति कहा है—

"प्रकृत प्रतिषिध्यान्यस्थापन स्यादपह्नुति ।"

प्रकृत (उपमेय) का प्रतिषेध करके अन्य (उपमान) का स्थापन अर्थात् आरोप करना अपह्नुति कहलाता है।

उन्होने अपह्नुतिरहित होना ही रूपक का लक्षण माना है।

"रूपक रोपितारोपो विषये निरपह्नवे ।"

निरपह्नव अर्थात् निषेध-रहित विषय (उपमेय) में रोपित (अपह्नव-भेद उपमान) के आरोप को रूपक अलकार कहते हैं।

न पर्यन्तो विकल्पाना रूपकोपमयोरत ।
दिड्मात्र दर्शित धीरैरनुक्तमनुमीयताम् ॥६६॥

अर्थ—रूपक तथा उपमा के भेद-प्रभेदो का पर्यवसान नही है। इस-लिए यहाँ केवल दिग्दर्शन-मात्र किया गया है। जो कथन करने से शेष रह गया है उसका विद्वानो को अनुमान कर लेना चाहिए।

[दीपक]

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपक यथा ॥६७॥

अर्थ—(प्रबन्ध के अन्तर्गत किसी भी वाक्य के आदि, मध्य या अन्त में) एक ही स्थान पर विद्यमान जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य वाची पद द्वारा यदि सारा वाक्य अन्वययुक्त अर्थात् सम्बन्धित हो तो उसको दीपक

अलकार कहते हैं ।

टिप्पणी—जिस प्रकार दीपक एक स्थान पर रक्खा हुआ सम्पूर्ण स्थान को प्रकाशित करता है उसी प्रकार इस अलकार में जात्यादि पद द्वारा सारा वाक्य प्रकाशित होता है। अत दीप के साम्य पर दीपक अलकार अनुकृत किया गया है। साहित्यदर्पणकार ने दीपक की यह परिभाषा प्रस्तुत की है—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते ।
अथकारकमेक स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥ —विश्वनाथ ।

जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओ का एक ही कारक हो वहाँ दीपक अलकार होता है ।

पवनो दक्षिण. पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम् ।
स एवावनताङ्गीना मानभङ्गाय कल्पते ॥९८॥

अर्थ—दक्षिण का मलय-पवन लताओ के पुराने पत्तो का हरण करता है और वही (पवन) विनम्र गात्र वाली स्त्रियो का मान भग भी करता है ।

टिप्पणी—यहाँ पूर्वार्द्ध में 'पवन' जातिवाचक शब्द का प्रयोग किया गया है जो उत्तरार्द्ध वाक्य में भी सहायक है। अत एक पवन शब्द के सारे पद्य में काम आने से यह जातिदीपक है ।

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिन ।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते ॥९९॥

अर्थ—तुम्हारे हाथी चारो समुद्रो के तटो पर स्थित उद्यानो में तथा कुन्द पुष्प के समान कान्ति वाले तुम्हारे गुण चक्रवाल (लोकालोक) पर्वत के कुञ्जो में सचरण करते हैं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद्य में चकार के प्रयोग द्वारा 'चरन्ति' क्रिया पूर्णत अर्थ स्पष्ट करने में सहायक हुई है। दोनो वाक्यो में एक ही क्रिया के अन्वय के कारण यहाँ क्रिया-दीपक है ।

श्यामला प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपक्तिभि ।
भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभि ॥१००॥

अर्थ—वर्षाऋतु-कालीन मेघो की पक्तियो से दिशाएँ तथा कोमल नई हरी घास की पक्तियो से पृथ्वी श्यामल वर्ण की है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'श्यामल' इस गुणवाचक पद से दिशाएँ तथा पृथ्वी परस्पर सम्बन्धित हैं। अत. यह गुणदीपक है।

विष्णुना विक्रमस्थेन दानवाना विभूतयः ।
क्वापि नीता कुतोऽप्यासन्नानीता देवतर्द्धय ॥१०१॥

अर्थ—त्रिविक्रम (तीन प्रकार के पराक्रम करने वाले) विष्णु के द्वारा वलि प्रभृति दानवो की सम्पत्ति किसी अन्य स्थान पर ले जाई गई और देवताओ की ऋद्धियाँ कही से लाकर (विष्णु के द्वारा) स्थापित की गईं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में व्यक्तिवाचक 'विष्णु' शब्द के द्रव्य-वाचक होने से इसका पूर्ववाक्य तथा उत्तरवाक्य में समानरूप से अन्वय होने के कारण यह द्रव्यदीपक है।

इत्यादिदीपकान्युक्तान्येव मध्यान्तयोरपि ।
वाक्ययोर्दर्शयिष्याम कानिचित् तानि तद्यथा ॥१०२॥

अर्थ—उक्त प्रकार से आदि में आने वाले पदो के अन्तर्गत जाति आदि दीपक के भेद वर्णित किये गये हैं। इस प्रकार से (आदि पदगत दीपक की तरह) मध्य तथा अन्त के वाक्यो में भी कुछ उनका (दीपको का) दिग्द-र्शन करायेंगे। वे इस प्रकार हैं।

नृत्यन्ति निचुलोत्सङ्गे गायन्ति च कलापिन ।
वध्नन्ति च पयोदेषु दृशो हर्षाश्रुगर्भिणी ॥१०३॥

अर्थ—मोर बेंत वृक्ष के नीचे नाचते तथा केकाशब्द करते है और आनन्द के आँसुओ से परिपूर्ण नेत्रो को बादलो में स्थिर करते हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर 'कलापिन' इस जातिवाचक पद के मध्य में होने से यह जातिगत मध्यदीपक है।

मन्दो गन्धवह क्षारो वह्निरिन्दुश्च जायते ।
चर्चाचन्दनपातश्च शस्त्रपात प्रवासिनाम् ॥१०४॥

अर्थ—प्रवासियो अर्थात् विरहियो को मन्द तथा सुगधयुक्त समीर

दुखदायी व चन्द्रमा अग्नि के समान सतापकारी तथा अगो पर चदनलेपन शस्त्र के प्रहार-जैसा होता है ।

टिप्पणी—यहाँ वाक्य के मध्य में 'जायते' इस क्रियापद का सारे वाक्य से अन्वय है अत यह क्रियागत मध्यदीपक है। यहाँ पर रूपक अलकार भी है। इसलिए यहाँ दोनो का समृष्टिसकर है। गुण-द्रव्य-गत दीपक के उदाहरण भी इसी प्रकार जानने चाहिए।

जल जलधरोद्गीर्णं कुल गृहशिखण्डिनाम् ।
चल च तडिता दाम वल कुसुमधन्वन ॥१०५॥

अर्थ—बादलो द्वारा गिराया जल, पालतू मयूरो का समूह तथा चचल बिजली की रेखा—ये सब पुष्पधनु (मदन) की सेना है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण के 'वल' इस जातिवाचक पद के सम्पूर्ण वाक्य के अन्त में स्थित होने पर भी सारे वाक्य के समन्वय के कारण यह जातिगत अन्त-दीपक है ।

त्वया नीलोत्पल कर्णे स्मरेणास्त्र शरासने ।
मयापि मरणे चेतस्त्रयमेतत् सम कृतम् ॥१०६॥

अर्थ—तेरे द्वारा कान पर नीला कमल, कामदेव के द्वारा धनुप पर तीर और मेरे द्वारा भी मरण पर चित्त—ये तीनो एक-साथ रखे गये है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'कृतम्' इस अन्तिम क्रियापद के द्वारा सारे वाक्य का सबध होने से यह क्रियागत अत-दीपक का उदाहरण है। मानिनी के प्रति नायक की यह उक्ति है ।

शुक्ल श्वेतार्चिषो वृद्धचै पक्ष पञ्चशरस्य स ।
स च रागस्य रागोऽपि यूना रत्युत्सवश्रिय ॥१०७॥

अर्थ—शुक्ल पक्ष (महीने का प्रथम पक्ष) चन्द्रमा का परिवर्द्धन करता है, चन्द्रमा कामदेव का, कामदेव अनुराग का तथा अनुराग तरुण पुरुषो के लीला-विलास के उत्सव की शोभा को बढाता है।

इत्यादिदीपकत्वेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी ।
वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपकं मतम् ॥१०८॥

अर्थ—इस प्रकार ('शुक्लपक्ष' इस पद के) आदि-दीपक होने पर भी अपने से पहले पहले वाक्य-समूह के अपेक्ष्यमाण होने के रूप में प्रयुक्त होने के कारण यह माला-दीपक कहा गया है।

टिप्पणी—सक्षेप में मालादीपक वह कहलाता है जहाँ उत्तरोत्तर वाक्य अपने से पहले पहले वाक्य का सापेक्षित हो।

अवलेपमनङ्गस्य वर्धयन्ति बलाहका।
कर्षयन्ति तु घर्मस्य मारुतोद्धूतशीकरा· ॥१०९॥

अर्थ—वायु द्वारा उत्क्षिप्त जल-कणो से युक्त बादल कामदेव के दर्प को बढाते है पर ग्रीष्म के दर्प (सताप) को न्यून करते हैं।

अवलेपपदेनात्र बलाहकपदेन च।
क्रिये विरुद्धे सयुक्ते तद्विरुद्धार्थदीपकम्॥११०॥

अर्थ—यहाँ पर (कर्मभूत) अवलेप (दर्प) पद के तथा (कर्तृभूत) बलाहक (बादल) पद के द्वारा (वर्द्धन तथा कर्शन रूप) विरुद्ध क्रियाओ के सयुक्त होने से यह विरुद्धार्थदीपक है।

टिप्पणी—इस प्रकार वर्द्धन तथा कृशीकरण रूप विरुद्ध क्रियाओ के एक ही कर्ता तथा कर्म में सबधित होने के कारण यह विरुद्धार्थ-दीपक हुआ।

हरत्याभोगमाशाना गृह्णाति ज्योतिषां गणम्।
आदत्ते चाद्य मे प्राणानसौ जलधरावली॥१११॥

अर्थ—यह मेघपक्ति दिशाओ के विस्तार का हरण करती है तथा नक्षत्रो के समुदाय को प्रच्छन्न कर देती है और आज मेरे प्राणो को हर रही है।

अनेकशब्दोपादानात् क्रियैवात्र दीप्यते।
यतो जलधरावल्या तस्मादेकार्थदीपकम्॥११२॥

अर्थ—क्योकि मेघपक्ति की (अदर्शनरूप) एक ही क्रिया यहाँ पर ('हरति', 'गृह्णाति', 'आदत्ते') आदि (क्रियावाचक) अनेक शब्दो द्वारा गृहीत होकर प्रकाशित हुई है। इस कारण से यह एकार्थदीपक है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में एक ही क्रिया विभिन्न क्रियावाचक पदो द्वारा व्यक्त की गई है, अत यहाँ एकार्थ-दीपक स्पष्ट ही है।

हृद्यगन्धवहास्तुङ्गास्तमालश्यामलत्विषः ।
दिवि भ्रमन्ति जीमूता भुवि चैते मतङ्गजा ॥११३॥

अर्थ—(ग्रीष्म के सन्ताप को दूर करने के कारण) मनोरम सुगधित वायु से प्रेरित, ऊँचे तथा तमाल के समान श्यामल कान्तिवाले वादल आकाश में तथा मनोरम मदजनित गध को वहन करने वाले, ऊचे तथा तमाल के समान श्यामल कान्ति वाले ये हाथी पृथ्वी पर पर्यटन कर रहे हैं।

अत्र धर्मैरभिन्नानामभ्राणां दन्तिना तथा ।
भ्रमणेनैव सम्बन्ध इति श्लिष्टार्थदीपकम् ॥११४॥

अर्थ—यहाँ पर वादलो तथा हाथियो के (हृद्य, गधवह आदि) अभिन्न धर्म होने से तथा एक भ्रमण-क्रिया द्वारा (दोनो वाक्यो से) सम्वन्वित होने से यह श्लिष्टार्थ-दीपक हुआ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वादल तथा हाथी के श्लिष्ट शब्द द्वारा प्रतिपादित सावारण धर्म के भ्रमण-रूप क्रिया द्वारा द्योतित होने से यह श्लिष्टार्थ-दीपक हुआ।

अनेनैव प्रकारेण शेषाणामपि दीपके ।
विकल्पानामवगतिर्विधातव्या विचक्षणैः ॥११५॥

अर्थ—विद्वानो को इसी प्रकार से (वैचित्र्य-विशेष द्वारा कथन से) अवशिष्ट दीपक के भेदो को जान लेना चाहिए।

अर्थावृत्ति. पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च ।
दीपकस्थान एवेष्टमलङ्कारत्रय यथा ॥११६॥

अर्थ—दीपक के प्रसग में अर्थ की आवृत्ति, पद की आवृत्ति तथा अर्थ और पद की आवृत्ति होने से (कवियो द्वारा) तीन प्रकार के अलकार इष्ट हैं। जैसे .

टिप्पणी—दीपक अलकार में तो प्रथम वाक्य में कथन करने के

पश्चात् द्वितीय वाक्य में उसी का ही अन्वय द्वारा ग्रहण हो जाता है। परन्तु दीपकावृत्ति में उसी वाक्य में उसी पद का ही प्रयोग होता है तथा अन्य वाक्य में भिन्न शब्द के रूप में उसकी आवृत्ति होती है। दोनो में यह अन्तर है। भोजराज ने तो तीन प्रकार की इस आवृत्ति को दीपक के ही भेद कहा है।

विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमा ।
उन्मीलन्ति च कन्दल्यो दलन्ति ककुभानि च ॥११७॥

अर्थ—कदम्ब विकसित होते हैं, कुटज के कुसुम प्रस्फुटित होते हैं और कदली उन्मीलित होती है तथा कुकुभ पुष्पित होते हैं।

टिप्पणी—यद्यपि प्रस्तुत उदाहरण में 'विकसन्ति', 'स्फुटन्ति', 'उन्मीलन्ति' आदि पद भिन्न रूप में होते हुए भी एक ही (विकसित होने रूप) अर्थ का आवृत्ति रूप में बोध कराते हैं। अत यहाँ अर्थावृत्ति-रूप दीपकावृत्ति है।

उत्कण्ठयति मेघाना माला वृन्द कलापिनाम्।
यूनां चोत्कण्ठयत्येष मानस मकरध्वज ॥११८॥

अर्थ—बादलो की मालाएँ (पक्तियाँ) मोरो के समूह को उत्कठित करती हैं और यह कामदेव युवको के मन को उत्कठित (विलासोन्मुख) करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में केवल 'उत्कठयति' इस पद की ही पुनरावृत्ति हुई है। परन्तु अर्थ की पुनरावृत्ति नही है क्योकि प्रथम 'उत्कठयति' का अर्थ है—ग्रीवा ऊँचा करना तथा दूसरे पद का अर्थ है—उत्सुकता-युक्त विलासोन्मुख करना। अत यहाँ पर स्पष्ट ही पदमात्र की पुनरावृत्ति हुई है.।

जित्वा विश्व भवानत्र विहरत्यवरोधनै ।
विहरत्यप्सरोभिस्ते रिपुवर्गो दिवङ्गत ॥११९॥

अर्थ—यहाँ (मर्त्यलोक में) आप भूमडल को विजित करके अन्त पुर की स्त्रियो से विहार करते हैं और युद्ध में स्वर्गवासी हुए तेरे शत्रु

[आक्षेप]

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा ।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ॥१२०॥

अर्थ—निषेध का कथन मात्र ही आक्षेप है, यह तीन कालों के अनुसार तीन प्रकार का है अर्थात् वर्तमान आक्षेप, भूत आक्षेप, भविष्य आक्षेप। इसके बाद पुन (तीन प्रकार के) आक्षेप्य के भेदो की अनन्तता के अनुरूप ही इसके भेद भी अनन्त है।

टिप्पणी—इस अलकार में वास्तविक निषेध नहीं होता। प्रतिषेध का आभासमात्र ही आक्षेप कहलाता है।

अनङ्गः पञ्चभि पुष्पैर्विश्वं व्यजयतेषुभि ।
इत्यसम्भाव्यमथवा विचित्रा वस्तुशक्तयः ॥१२१॥

अर्थ—अनग (कामदेव) ने वाणरूप पाँच पुष्पो के द्वारा विश्व को विजित कर लिया, यह असम्भव है, अथवा वस्तु की शक्तियाँ विचित्र हैं, अर्थात् वस्तु की शक्ति द्वारा सब कुछ सभावित हो सकता है।

इत्यनङ्गजयायोगबुद्धिर्हेतुबलादिह ।
प्रवृत्तेव यदाक्षिप्ता वृत्ताक्षेप स ईदृश ॥१२२॥

अर्थ—इस प्रकार से (विना अग वाले) कामदेव द्वारा विश्व-विजय की असम्भवता-विषयक बुद्धि यहाँ (पुष्परूप पाँच वाण) कारण के सामर्थ्य से उत्पन्न हो गई जिसका कि (वस्तु शक्ति के महात्म्य का प्रदर्शन करके) प्रतिषेध किया गया है। इस प्रकार का वृत्ताक्षेप है। (यह भूत-वृत्ताक्षेप है।)

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वाचक शब्द के योग से प्रतिषेध व्यग्यरूप में है।

कुत कुवलय कर्णे करोषि कलभाषिणी ।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे ॥१२३॥

अर्थ—हे मधुरभाषिणी, किस कारण से तुम कान पर नीला कमल

धारण करती हो, क्या इस (कान के शोभा-सपादन करने अथवा नायक के चित्त को हरण करने के) काम में (अपाग नेत्र प्रान्त) कटाक्ष को असमर्थ समझती हो।

टिप्पणी—कटाक्ष द्वारा ही कानो की शोभा के सम्पादन के कारण नील कमल का धारण करना व्यर्थ है यह वर्तमान आक्षेप है। यहाँ पर प्रतिषेध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

स वर्तमानाक्षेपोऽय कुर्वत्यैवासितोत्पलम् ।
कर्णे काचित् प्रियेणैव चाटुकारेण रुध्यते ॥१२४॥

अर्थ—नील कमल को कान पर धारण करती हुई कोई (नायिका) चाटुकारीप्रिय द्वारा इस प्रकार निषिद्ध की गई। इस प्रकार यह वर्तमान आक्षेप है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में (वर्तमानकालीन—धारण करती हुई न कि कर चुकी थी अथवा करेगी) नील कमल के धारण के निषेध के कारण यह वर्तमान आक्षेप जानना चाहिए।

सत्य ब्रवीमि न त्व मां दृष्टु ! वल्लभ लप्स्यसे।
अन्यचुम्बनसक्रान्तलाक्षारक्तेन चक्षुषा ॥१२५॥

अर्थ—हे पति ! मैं सत्य कहती हूँ कि तू परकीया के चुम्बन के कारण उसके अधर से लगे हुए लाक्षा से रजित (अपने) नेत्रो से मुझको देखने में समर्थ न हो सकेगा।

सोऽय भविष्यदाक्षेप प्रागेवातिमनस्विनी।
कदाचिदपराधोऽस्य भावीत्येवमरुन्धयत् ॥१२६॥

अर्थ—अतिमानिनी (नायिका) ने 'कभी इससे अपराध होगा' ऐसी आशका करके जो पहले ही इस प्रकार (नायक को) रोक दिया है यही वह भविष्यत् आक्षेप है।

टिप्पणी—यहाँ पर (मैं सत्य कहती हूँ इस प्रकार के वाक्य द्वारा) नायक के भविष्य में अन्य के प्रति होनेवाले अनुराग के निषेध के कारण यह भविष्यदाक्षेप है।

तव तन्वङ्गि ! मिथ्यैव रूढमङ्गेषु मार्दवम् ।
यदि सत्य मृदून्येव किमकाण्डे रुजन्ति माम् ॥१२७॥

अर्थ—हे कृशांगी, तेरे अंगो में स्थित मार्दवता (सुकुमारता) मिथ्या ही है, यदि यह सत्य है कि अंग कोमलतायुक्त हैं तो अकारण ही मुझे क्यो व्यथित कर रहे हैं।

धर्माक्षेपोयमाक्षिप्तमङ्गनागात्रमार्दवम् ।
कामुकेन यदत्रैव कर्मणा तद्विरोधिना ॥१२८॥

अर्थ—इस प्रकार यहाँ प्रेमी के द्वारा उस (सुकुमारता) विरोधी (व्यथा प्रदान करने वाले) कर्म से इस प्रकार नायिका के शरीर की मृदुता का निषेध किये जाने से यह धर्माक्षेप है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में मार्दवता का निषेध किया गया है। अत. यहाँ पर धर्माक्षेप है।

सुन्दरी सा नवेत्येष विवेक. केन जायते ।
प्रभामात्र हि तरलं दृश्यते न तदाश्रय ॥१२९॥

अर्थ—वह (नायिका) सुन्दरी है या नही यह निश्चित ज्ञान किस प्रकार हो। अत. उसकी केवल चचल या उज्ज्वल प्रभा ही दिखाई पड़ती है पर उसका (नायिका का) आधारभूत शरीर दृष्टिगोचर नही होता।

धर्म्याक्षेपोऽयमाक्षिप्तो धर्मी धर्मप्रभाह्वयम् ।
अनुज्ञायैव यद्रूपमत्याश्चर्यं विवक्षता ॥१३०॥

अर्थ—(प्रभातिशय के कारण) अत्यन्त विस्मयकारी (नायिका) के रूप का प्रतिपादन करते हुए प्रभा रूप (नायिका के) धर्म को स्वीकार करके ही जो धर्मी अर्थात् नायिका के रूप का निषेध किया है इस कारण यह धर्म्याक्षेप है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में नायिका के धर्म के प्रतिपादन तथा उसके स्वरूप के निषेध के कारण धर्म्याक्षेप है।

चक्षुषी तव रज्येते स्फुरत्यधरपल्लव ।
भ्रुवौ च भुग्नौ न तथाऽप्यदुष्टस्यास्ति मे भयम् ॥१३१॥

अर्थ—तेरे नेत्र लाल हो रहे है, अधर पल्लव (क्रोध के कारण) कम्पित हो रहा है और भौंहे वक्र हो गई है तब भी मुझ निरपराधी को भय नही है।

स एष कारणाक्षेप प्रधान कारणं भिय. ।
स्वापराधो निषिद्धोऽत्र यत् प्रियेण पटीयसा ॥१३२॥

अर्थ—यहाँ पर चतुर प्रिय द्वारा भय के प्रधान कारण अपने अपराध का जो निषेध किया गया है इससे यह कारणाक्षेप है।

टिप्पणी—कुछ के मत में यहाँ विभावना अलकार है पर वह उपयुक्त नही। जहाँ पर प्रधान कारण का निषेध होता है वहाँ तो कारणाक्षेप होता है और जहाँ अप्रधान कारण का निषेध होता है वहाँ विभावना अलकार होता है। अत इन दोनो को अलग ही समझना चाहिए। यहाँ पर कारणाक्षेप स्पष्ट है।

दूरे प्रियतम सोऽयमागतो जलदागम. ।
दृष्टाश्च फुल्ला निचुला न मृता चास्मि किं न्विदम् ॥१३३॥

अर्थ—प्रियतम तो दूर है और यह वर्षाऋतु आ गई है, बेंत वृक्ष विकसित दिखाई दे रहे हैं तो भी मैं नही मरी हूँ अर्थात् कामाग्नि से दग्ध नही हुई हूँ। ऐसा क्यो है ?

कार्याक्षेप स कार्यस्य मरणस्य निवर्तनात् ।
तत्कारणमुपन्यस्य दारुणं जलदागमम् ॥१३४॥

अर्थ—कठोर वर्षाकाल रूप कारण को उपस्थित करके उस—मरने के—कार्य का निषेध करने से यह कार्याक्षेप है।

टिप्पणी—साहित्यदर्पणकार के मत में यह विशेपोक्ति है जिसके अनुसार विशेपोक्ति का लक्षण यह है 'सति हेतौ फलाभावो विशेपोक्ति' हेतु के होने पर जहाँ फल का अभाव होता है वहाँ विशेपोक्ति होती है। पर यदि हम यहाँ हेतु का अप्रसिद्ध हेतु यह अर्थ स्वीकार करें तो यहाँ विशेपोक्ति नही होगी। अन्यथा दोनो की विषय-एकता के कारण दुरवस्था हो जायगी।

न चिरं मम तापाय तव यात्रा भविष्यति ।
यदि यास्यसि यातव्यमलमाशङ्कयात्र मे ॥१३५॥

अर्थ—तेरी यात्रा मेरी विरह-वेदना का चिरकाल तक कारण न होगी । अर्थात् शीघ्र ही तेरे विरह के कारण मेरी लोकयात्रा समाप्त हो जायगी । यदि जाना चाहते हो तो अवश्य जाना चाहिए । तुमको यहां की कुछ भी आशका न करनी चाहिए ।

इत्यनुज्ञामुखेनैव कान्तस्याक्षिप्यते गति ।
मरण सूचयन्त्यैव सोऽनुज्ञाक्षेप उच्यते ॥१३६॥

अर्थ—(विदेश-गमन को) अनुमति देते हुए भी (विरह से) मरण की सूचना द्वारा पति के गमन का निषेध किया गया है इस प्रकार यह अनुज्ञाक्षेप कहा जाता है ।

टिप्पणी—विश्वनाथ के मत में इस प्रकार के स्थलो में विध्याभास अलकार है ।

धन च बहुलभ्यं ते सुख क्षेम च वर्त्मनि ।
न च मे प्राणसन्देहस्तथापि प्रिय ! मा स्म गा ॥१३७॥

अर्थ—हे प्रिय ! तुझे (विदेश जाने पर) अत्यन्त धन तथा मार्ग में सुख तथा कल्याण प्राप्त होगा और मेरे प्राणो के विषय में भी सन्देह नही है तो भी तुम मत जाओ ।

इत्याचक्षाणया हेतून् प्रिययात्रानुबन्धिन. ।
प्रभुत्वेनैव रुद्धस्तत् प्रभुत्वाक्षेप उच्यते ॥१३८॥

अर्थ—इस प्रकार प्रिय की यात्रा के अनुकूल कारणो का कथन करते हुए भी (प्रेम के कारण अपने अधीन पति को) अपने प्रभुत्व से ही रोक दिया । यह प्रभुत्वाक्षेप कहा गया है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रभुत्व द्वारा निषेध किया गया है ।

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त ! स्वावस्था तु निवेदिता ॥१३९॥

अर्थ—हे प्रिय ! मेरी जीने की आशा बलवती है तथा धन की आशा

दुर्बल है अर्थात् धन-लाभ की अपेक्षा तेरे साथ रहकर जीना चाहती हूँ। अब यदि तू जाना चाहता है तो जा और ठहरना चाहता है तो रह, अपनी अवस्था (मनोवृत्ति) का तो मैंने निवेदन कर ही दिया है।

असावनादराक्षेपो यदनादरवद्वच ।
प्रियप्रयाण रुन्धत्या प्रयुक्तमिह रक्तया ॥१४०॥

अर्थ—यहाँ प्रिय के विदेशगमन को रोकती हुई अनुरागिणी द्वारा आदररहित के समान जो वचन प्रयुक्त किया गया है अर्थात् तू जा या ठहर यह तेरी इच्छा। यह अनादर आक्षेप है।

टिप्पणी—अनादरपूर्वक निषेध के कारण यह अनादराक्षेप है।

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त! पन्थान सन्तु ते शिवा ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥१४१॥

अर्थ—हे नाथ! यदि तुम जाना चाहते हो तो जाओ, तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हो। जहाँ आप जाते है (मैं चाहती हूँ) मेरा जन्म भी वहाँ पर हो।

इत्याशीर्वचनाक्षेपो यदाशीर्वादवर्त्मना ।
स्वावस्थासूचयन्त्यैव कान्तयात्रा निषिध्यते ॥१४२॥

अर्थ—आशीर्वाद के वचन की रीति से अपनी अवस्था को सूचित करती हुई जो पति की विदेश-यात्रा का निषेध करती है इससे यह अनिर्वचनाक्षेप है।

टिप्पणी—अशीर्वाद-वचन-पूर्वक प्रतिपेध किये जाने को आशीर्वचनाक्षेप कहते हैं।

यदि सत्यैव यात्रा ते काप्यन्या मृग्यता त्वया ।
अहमद्यैव रुद्धास्मि रन्ध्रापेक्षेण मृत्युना ॥१४३॥

अर्थ—यदि तुम्हारा विदेश-गमन निश्चय ही है तो तुमको अन्य कोई प्रियतमा ढूंढनी चाहिए। मैं बहाना ढूंढने वाली मृत्यु के द्वारा आज ही आक्रान्त हूँ अर्थात् मैं आज ही मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगी।

इत्येव परुषाक्षेप. परुषाक्षरपूर्वकम् ।
कान्तस्याक्षिप्यते यस्मात् प्रस्थाने प्रेमनिघ्नया ।।१४४।।

अर्थ—अनुरागवशवर्तिनी कठोर पदावलीपूर्वक अर्थात् निष्ठुर वचन कथन कर अपने पति के विदेश-प्रस्थान का निषेध करती है इसलिए यह परुषाक्षेप है ।

टिप्पणी—यहाँ पर कठोरवचनपूर्वक निषेध के कारण परुषाक्षेप है ।

गन्ता चेद् गच्छ तूर्णं ते कर्णौ यान्ति पुरा रवाः ।
आर्तबन्धुमुखोद्गीर्णा. प्रयाणपरिपन्थिन ।।१४५।।

अर्थ—(हे नाथ) यदि आप जाना चाहते हैं तो शीघ्र चले जाइए (अन्यथा मेरी मृत्यु से) दुःख के कारण बन्धु-बान्धवो के मुख से निकली हुई यात्रा में विघ्न डालने वाली ध्वनियाँ आपके कानो में पहुँचेंगी अर्थात् सुनाई पडेंगी ।

साचिव्याक्षेप एवैष यदत्र प्रतिषिध्यते ।
प्रियप्रयाण साचिव्य कुर्वत्येवानुरक्तया ।।१४६।।

अर्थ—यहाँ पर अनुरक्त (नायिका) द्वारा (जल्दी जाने के लिए) सहायता की जाते हुए भी प्रिय के यात्रा-गमन में निषेध किया जाता है यही साचिव्याक्षेप होता है ।

टिप्पणी—सहायता द्वारा निषेध के कथन को साचिव्याक्षेप कहते हैं ।

गच्छेति वक्तुमिच्छामि मत्प्रिय ! त्वत्प्रियैषिणी ।
निर्गच्छति मुखाद्वाणी मा गा इति करोमि किम् ।।१४७।।

अर्थ—हे मेरे प्रिय ! चाहने वाली मैं तुमको 'जाओ' यह कहना चाहती हूँ पर मेरे मुख से 'मत जाओ' यह वाणी निकलती है । मैं क्या करूँ ?

यत्नाक्षेपः स यत्नस्य कृतस्यानिष्टवस्तुनि ।
विपरीतफलोत्पत्तेरानर्थक्योपदर्शनात् ।।१४८।।

अर्थ—(गमन-विधान-रूप) अनिष्ट कार्य में यत्न करने पर विपरीत

फल उत्पत्ति (अर्थात् "मत जाओ" इस प्रकार की वाणी के निकलने) के कारण विफलता की सम्भावना के द्योतन होने से यह यत्नाक्षेप है।

टिप्पणी—जहाँ पर यत्नपूर्वक कार्य में निषेध किया जाता है वहाँ यत्नाक्षेप अलकार होता है।

क्षण दर्शनविघ्नाय पक्ष्मस्पन्दाय कुप्यत. ।
प्रेम्णः प्रयाण त्व ब्रूहि मया तस्येष्टमिष्यते ॥१४९॥

अर्थ—(हे नाथ !) एक पल भी दर्शन में विघ्नस्वरूप पलको के निमेष-उन्मेष-रूप स्पन्दन पर क्रोधित होते हुए अर्थात् पलको का बन्द होना न सहन करते हुए आप अनुराग के प्रति यात्रा की अनुमति का निवेदन कीजिए। मेरे द्वारा उसी प्रेम का इष्ट वाञ्छनीय है। अर्थात् यदि प्रेम तुम्हे जाने की अनुमति देता है तो चले जाओ मैं उसके विरुद्ध नही होऊँगी।

सोय परवशाक्षेपो यत् प्रेमपरतन्त्रया ।
तया निषिध्यते यात्रेत्यन्यार्थस्योपसूचनात् ॥१५०॥

अर्थ—प्रेम-पराधीना नायिका द्वारा अन्य वस्तु अर्थात् प्रेम से अनुमति ग्रहण करने रूप वस्तु के कथन से जो यात्रा का निषेध किया गया है इससे यह परवशाक्षेप है।

टिप्पणी—दूसरे के वशपूर्वक निषेध-कथन के कारण यहाँ पर परवशाक्षेप है।

सहिष्ये विरह नाथ ! देह्यदृश्याञ्जन मम ।
यदक्तनेत्रां कन्दर्प प्रहर्ता मां न पश्यति ॥१५१॥

अर्थ—हे नाथ ! मैं आपके (दूर होने के कारण उद्भूत) विरह को सह लूँगी किन्तु उसके लिए मुझे अदृश्य होने का अजन दे दीजिए जिसको नेत्रो में आँजकर मुझे प्रहरणशील कामदेव न देख सके।

दुष्कर जीवनोपायमुपन्यस्योपरुध्यते ।
पत्यु प्रस्थानमित्याहुरुपायाक्षेपमीदृशम् ॥१५२॥

अर्थ—जीवन धारण करने के (अदृश्य होने के लिए अंजन-रूप) कठिन उपाय का विधान करके पति की विदेश-यात्रा का प्रतिषेध किया गया है। इस प्रकार के इसको उपायाक्षेप कहते हैं।

टिप्पणी—उपायपूर्वक प्रतिषेध के विधान करने को उपायाक्षेप अलंकार कहते हैं।

प्रवृत्तैव प्रयामीति वाणी वल्लभ ! ते मुखात्।
अयतापि त्वयेदानीं मन्दप्रेम्णा ममास्ति किम् ॥१५३॥

अर्थ—हे वल्लभ ! तुम्हारे मुख से 'मैं प्रयाण करता हूँ' यह वाणी उच्चरित हो ही गई है। इस समय मेरे प्रति मद प्रेम वाले तेरे न जाने पर भी मुझे क्या प्रयोजन है।

रोषाक्षेपोऽयमुद्रिक्तस्नेहनिर्यन्त्रितात्मना ।
सरब्धया प्रियारब्धं प्रयाणं यन्निषिध्यते ॥१५४॥

अर्थ—अतिशय प्रेम की पराकाष्ठा से विह्वल अन्त.करण वाली कुपिता नायिका द्वारा प्रिय से प्रारम्भ किया हुआ यात्रा-प्रस्थान निषिद्ध किया जाता है। यह रोषाक्षेप है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में क्रोधपूर्वक यात्रा निषेध का प्रतिपादन होने से रोषाक्षेप अलकार है।

मुग्धा कान्तस्य यात्रोक्तिश्रवणादेव मूर्छिता ।
बुद्ध्वा वक्ति प्रियं दृष्ट्वा किं चिरेणागतो भवान् ॥१५५॥

अर्थ—पति की यात्रा की बात सुनते ही सुन्दरी मूर्छित हो गई, पर होश में आने पर प्रिय को देखकर उसने पूछा कि आप बहुत काल के अनन्तर आये हैं अर्थात् आप बहुत देर बाद क्यो आये है ?

इति तत्कालसभूतमूर्छयाक्षिप्यते गतिः ।
कान्तस्य कातराक्ष्या यन्मूर्छाक्षेपः स ईदृशः ॥१५६॥

अर्थ—इस प्रकार उस समय (यात्रा के प्रस्थान काल में) मूर्छित हुई तथा डबडबाई आँखो वाली (मुग्धा नायिका) द्वारा पति के विदेश-गमन का निषेध किया गया है। इस प्रकार मूर्छाक्षेप कहलाता है।

फल उत्पत्ति (अर्थात् "मत जाओ" इस प्रकार की वाणी के निकलने) के कारण विफलता की सम्भावना के द्योतन होने से यह यत्नाक्षेप है।

टिप्पणी—जहाँ पर यत्नपूर्वक कार्य में निषेध किया जाता है वहाँ यत्नाक्षेप अलकार होता है।

क्षण दर्शनविघ्नाय पक्ष्मस्पन्दाय कुप्यत.।
प्रेम्ण. प्रयाण त्व ब्रूहि मया तस्येष्टमिष्यते ॥१४९॥

अर्थ—(हे नाथ !) एक पल भी दर्शन में विघ्नस्वरूप पलको के निमेष-उन्मेष-रूप स्पन्दन पर क्रोधित होते हुए अर्थात् पलको का बन्द होना न सहन करते हुए आप अनुराग के प्रति यात्रा की अनुमति का निवेदन कीजिए। मेरे द्वारा उसी प्रेम का इष्ट वाञ्छनीय है। अर्थात् यदि प्रेम तुम्हे जाने की अनुमति देता है तो चले जाओ मैं उसके विरुद्ध नही होऊँगी।

सोय परवशाक्षेपो यत् प्रेमपरतन्त्रया।
तया निषिध्यते यात्रेत्यन्यार्थस्योपसूचनात् ॥१५०॥

अर्थ—प्रेम-पराधीना नायिका द्वारा अन्य वस्तु अर्थात् प्रेम से अनुमति ग्रहण करने रूप वस्तु के कथन से जो यात्रा का निषेध किया गया है इससे यह परवशाक्षेप है।

टिप्पणी—दूसरे के वशपूर्वक निषेध-कथन के कारण यहाँ पर परवशाक्षेप है।

सहिष्ये विरह नाथ ! देह्यदृश्याञ्जन मम।
यदक्तनेत्रा कन्दर्प· प्रहर्ता मा न पश्यति ॥१५१॥

अर्थ—हे नाथ ! मैं आपके (दूर होने के कारण उद्भूत) विरह को सह लूँगी किन्तु उसके लिए मुझे अदृश्य होने का अजन दे दीजिए जिसको नेत्रो में आँजकर मुझे प्रहरणशील कामदेव न देख सके।

दुष्कर जीवनोपायमुपन्यस्योपरुध्यते।
पत्यु प्रस्थानमित्याहुरुपायाक्षेपमीदृशम् ॥१५२॥

अर्थ—जीवन धारण करने के (अदृश्य होने के लिए अजन-रूप) कठिन उपाय का विधान करके पति की विदेश-यात्रा का प्रतिषेध किया गया है। इस प्रकार के इसको उपायाक्षेप कहते हैं।

टिप्पणी—उपायपूर्वक प्रतिषेध के विधान करने को उपायाक्षेप अलकार कहते हैं।

प्रवृत्तैव प्रयामीति वाणी वल्लभ ! ते मुखात्।
अयतापि त्वयेदानीं मन्दप्रेम्णा ममास्ति किम् ॥१५३॥

अर्थ—हे वल्लभ ! तुम्हारे मुख से 'मैं प्रयाण करता हूँ' यह वाणी उच्चरित हो ही गई है। इस समय मेरे प्रति मद प्रेम वाले तेरे न जाने पर भी मुझे क्या प्रयोजन है।

रोषाक्षेपोऽयमुद्रिक्तस्नेहनिर्यन्त्रितात्मना ।
सरुषया प्रियारब्ध प्रयाण यन्निषिध्यते ॥१५४॥

अर्थ—अतिशय प्रेम की पराकाष्ठा से विह्वल अन्त.करण वाली कुपिता नायिका द्वारा प्रिय से प्रारम्भ किया हुआ यात्रा-प्रस्थान निषिद्ध किया जाता है। यह रोषाक्षेप है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में क्रोधपूर्वक यात्रा निषेध का प्रतिपादन होने से रोषाक्षेप अलकार है।

मुग्धा कान्तस्य यात्रोक्तिश्रवणादेव मूर्छिता ।
बुद्ध्वा वक्ति प्रिय दृष्ट्वा किं चिरेणागतो भवान् ॥१५५॥

अर्थ—पति की यात्रा की वात सुनते ही सुन्दरी मूर्छित हो गई, पर होश में आने पर प्रिय को देखकर उसने पूछा कि आप बहुत काल के अनन्तर आये हैं अर्थात् आप बहुत देर बाद क्यो आये है ?

इति तत्कालसभूतमूर्छयाक्षिप्यते गतिः ।
कान्तस्य कातराक्ष्या यन्मूर्छाक्षेप· स ईदृश. ॥१५६॥

अर्थ—इस प्रकार उस समय (यात्रा के प्रस्थान काल में) मूर्छित हुई तथा डबडबाई आँखो वाली (मुग्धा नायिका) द्वारा पति के विदेश-गमन का निषेध किया गया है। इस प्रकार मूर्छाक्षेप कहलाता है।

टिप्पणी—मूर्छापूर्वक यात्रा के निषेध किये जाने पर मूर्छाक्षेप अलंकार होता है।

नाघ्रात न कृत कर्णे स्त्रीभिर्मधुनि नार्पितम्।
त्वद्द्विषां दीर्घिकास्वेव विशीर्णं नीलमुत्पलम् ॥१५७॥

अर्थ—तेरे वैरियो की स्त्रियो द्वारा नीलकमल न सूघा गया, न कान में लगाया गया, न सुरा के अन्दर ही डाला गया वह तो वावडियो में ही विनष्ट हो गया।

असावनुक्रोशाक्षेप सानुक्रोशमिवोत्पले।
व्यावर्त्य कर्म तद्योग्य शोच्यावस्थोपदर्शनात् ॥१५८॥

अर्थ—कमल पर दया-सी प्रकट करके उसके योग्य (अर्थात् स्त्रियो द्वारा सूँघने आदि) कर्म का निषेध करके उसकी शोचनीय अवस्था (अर्थात् कमल का वावडियो में ही अप्रयोग के कारण नष्ट हो जाने) का प्रकाशन करने के कारण यह अनुक्रोश आक्षेप है।

टिप्पणी—दयापूर्वक प्रतिषेध के कारण यहाँ पर अनुक्रोश आक्षेप अलकार है।

अमृतात्मनि पद्माना द्वेष्टरि स्निग्धतारके।
मुखेन्दौ तव सत्यस्मिन्नपरेण किमिन्दुना ॥१५९॥

अर्थ—अमृत के समान स्वभाववाले अर्थात् आह्लादकारी (चन्द्रपक्ष में अमृतमय स्वभाव वाले), (सौंदर्यातिशय के कारण) कमलो को पराजित करने वाले अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी (चन्द्रपक्ष में कमलो को बन्द करने के कारण द्वेष करने वाले) दो पुतलियो से युक्त स्निग्ध नेत्र वाले (चन्द्रपक्ष में स्पृहणीय अश्विनी आदि तारो वाले) तेरे इस मुखचन्द्र के होने पर इस (प्रसिद्ध) चन्द्रमा से क्या प्रयोजन अर्थात् कुछ भी नही।

इति मुख्येन्दुराक्षिप्तो गुणान् गौणेन्दुवर्तिन।
तत्समान् दर्शयित्वेह श्लिष्टाक्षेपस्तथाविध ॥१६०॥

अर्थ—इस प्रकार अप्रसिद्ध चन्द्र अर्थात् मुख में वर्तमान अमृत आदि गुणो को उस (मुख्य चन्द्र) के समान यहाँ पर (श्लेष द्वारा) प्रदर्शित

करके मुख्य चन्द्र का प्रतिषेध किया गया है। इस प्रकार का यह श्लिष्टाक्षेप है।

टिप्पणी—जहाँ पर श्लेषपूर्वक निषेध किया जाता है वहाँ श्लिष्टाक्षेप अलकार होता है।

अर्थो न सभृत. कश्चिन्न विद्या काचिदर्जिता।
न तप. सचितं किञ्चिद्गत च सकल वय. ॥१६१॥

अर्थ—कुछ भी धन-सचय नहीं किया तथा विद्या का भी अर्जन नही किया, कुछ तप भी सचित नही किया और सारी आयु (व्यर्थ) ही व्यतीत हो गई!

असावनुशयाक्षेपो यस्मादनुशयोत्तरन् ।
अर्थार्जनादेर्व्यावृत्तिर्दशितेह गतायुषा ॥१६२॥

अर्थ—जिस कारण से पश्चात्ताप के अनन्तर व्यतीत आयु वाले (वृद्ध) पुरुष के द्वारा धन एकत्र करने आदि की अभावता का यहाँ प्रदर्शन किया गया है, इससे यह अनुशयाक्षेप है।

टिप्पणी—पश्चात्तापपूर्वक अभाव के प्रदर्शन के कारण यहाँ पर अनुशयाक्षेप अलकार है।

किमयं शरदम्भोद· किं वा हंसकदम्बकम्।
रुतं नूपुरसवादि श्रूयते तन्न तोयद· ॥१६३॥

अर्थ—क्या यह शरत्कालीन मेघ है अथवा हसो का समूह, नूपुर की झनकार के समान ध्वनि सुनाई देती है इसलिए यह बादल नहीं है।

इत्ययं संशयाक्षेपः सशयो यन्निवर्त्यते।
धर्मेण हंससुलभेनास्पृष्टघनजातिना ॥१६४॥

अर्थ—बादलो में अनुपलभ्यमान (अप्राप्य) तथा हसो में आसानी से प्राप्त (नूपुर की झनकार के समान) ध्वनि रूप धर्म के द्वारा जो सशय नष्ट हो जाता है इससे यह सशयाक्षेप है।

टिप्पणी—यहाँ पर सशय द्वारा प्रतिषेध किया गया है अत सशयाक्षेप अलकार है।

चित्रमाक्रान्तविश्वोऽपि विक्रमस्ते न तृप्यति ।
कदा वा दृश्यते तृप्तिरुदीर्णस्य हविर्भुज. ॥१६५॥

अर्थ—तेरा पराक्रम जिसने सारे ससार को भी आक्रान्त कर दिया है, शान्त नही होता यह आश्चर्य ही है। अथवा उद्दीप्त या प्रज्वलित अग्नि की तृप्ति कब दिखाई देती है।

अयमर्थान्तराक्षेपः प्रक्रान्तो यन्निवार्यते ।
विस्मयोऽर्थान्तरस्येह दर्शनात् तत्सधर्मणः ॥१६६॥

अर्थ—इस उदाहरण में उसी के (विक्रम के) समान धर्म वाले अर्थान्तर (उद्दीप्त अग्नि के तृप्ति रूपी भाव) के प्रदर्शन से ('आश्चर्य है' इस) प्रस्तुत विस्मय का जो निवारण किया जाता है इससे यह अर्थान्तराक्षेप है।

टिप्पणी—यहाँ पर अर्थान्तरपूर्वक प्रस्तुत के निषेध के कारण अर्थान्तराक्षेप अलकार है।

न स्तूयसे नरेन्द्र ! त्व ददासीति कदाचन ।
स्वमेव मत्वा गृह्णन्ति यतस्त्वद्धनमर्थिन. ॥१६७॥

अर्थ—हे राजन् ! तुम दान करते हो यह मानकर कभी भी तुम्हारी प्रशसा नही की जाती क्योकि याचकगण तुम्हारे धन को अपना ही धन मानकर ग्रहण करते हैं।

इत्येवमादिराक्षेपो हेत्वाक्षेप इति स्मृतः ।
अनयैव दिशान्येपि विकल्पा. शक्यमूहितुम् ॥१६८॥

अर्थ—इस तरह से इस प्रकार के आक्षेप हेत्वाक्षेप कहे गये हैं। इसी रीति के द्वारा आक्षेप के अन्य भेद भी वर्णित किये जा सकते हैं।

टिप्पणी—हेतु के द्वारा निषेध किये जाने के कारण यहाँ पर हेत्वाक्षेप है। परन्तु कारणाक्षेप अलकार में कारण का ही निषेध किया जाता है यह दोनो में भेद जानना चाहिए।

[अर्थान्तरन्यास]

ज्ञेय सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन ।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुन ॥१६९॥

अर्थ—जहाँ किसी प्रकृत वस्तु को प्रस्तुत करके उसके समर्थन के लिए साधनभूत अन्य अप्रकृत वस्तु का जो स्थापन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास जानना चाहिए।

टिप्पणी—प्रथम प्रस्तुत को उपन्यस्त करके तदनन्तर उसके समर्थक अप्रस्तुत को प्रस्तुत किया जाता है। कभी यहाँ पर विपरीतता भी दृष्टि-गोचर होती है। भोजराज ने उसको विपरीत अर्थान्तरन्यास कहा है। इसमें पूर्वार्द्ध वाक्य परार्द्ध का समर्थक होता हुआ भी पूर्व उपस्थित किया जाता है। वस्तुत तो वह प्रस्तुत चाहे पूर्व में या पर में उपस्थित किया जावे पर अप्रस्तुत के द्वारा उसका समर्थन किया जाना अर्थान्तरन्यास कहलाता है। दर्पणकार का मत है कि यहाँ पर सामर्थ्य तथा समर्थक की सामान्य व विशेष भाव तथा कार्य-कारण-भाव साधर्म्य या वैधर्म्य से होता है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है—

"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यञ्च कारणेनेद कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थन्तरन्यासोऽष्टधाततः इति।"

विश्वव्यापी विशेषस्थ श्लेषाविद्धो विरोधवान्।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्यय· ॥१७०॥

अर्थ—सर्वव्यापक अर्थात् सर्वत्र सभव, विशेष अर्थात् वस्तु-विशेष में ही विद्यमान, श्लिष्टपदान्वित, प्रकृतविरोधी, अनुचित कार्यकारी, औचित्ययुक्त, युक्त तथा अयुक्त तथा विपरीतगुण-युक्त (ये अर्थान्तरन्यास के भेद होते है।)

इत्येवमादयो भेदा. प्रयोगेष्वस्य लक्षिता।
उदाहरणमालैषा रूपव्यक्त्यै निदर्श्यते ॥१७१॥

अर्थ—अर्थान्तरन्यास के इस प्रकार के भेद कवि-प्रयुक्त प्रयोगो में दृष्टिगत होते है। इनके स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए बहुत से उदाह-रण प्रस्तुत किये जाते है।

भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि ।
पश्य गच्छत एवास्त नियतिः केन लङ्घ्यते ।।१७२।।

अर्थ—भगवान् सूर्य-चन्द्र भी जोकि विश्व के नयन हैं, देखिए अस्त होते ही हैं। विधि के विधान का कौन उल्लघन कर सकता है!

टिप्पणी—यहाँ पर वाक्य के चतुर्थ पद के समर्थक भूत अर्थ के द्वारा ब्रह्मा से लेकर चीटी पर्यन्त सबका भाग्य के अधीन होने रूप कथन करने से सर्वव्यापकता स्पष्ट है। इस सामान्य अर्थ के द्वारा पहले तीन पदो के अन्तर्गत वर्णित विशेष अर्थ का समर्थन किया गया है, इसलिए यहाँ पर विश्वव्यापी अर्थान्तरन्यास अलकार है।

पयोमुच परीताप हरन्त्येव शरीरिणाम् ।
नन्वात्मलाभो महता परदुःखोपशान्तये ।।१७३।।

अर्थ—मेघ प्राणियो के ग्रीष्मजन्य सताप का हरण करते ही है यतः महान् पुरुषो का जन्म दूसरो के दुःखो के उपशमन के लिए ही होता है। यह विशेष अर्थान्तरन्यास है।

टिप्पणी—यहाँ पर उत्तरार्द्ध वाक्य में स्थित सामान्य (अर्थ) के द्वारा पूर्व वाक्य में स्थित विशेष का समर्थन किया गया है। इसके वस्तु-विशेष में ही विद्यमान होने के कारण यह विशेष नामक अर्थान्तर-न्यास है।

उत्पादयति लोकस्य प्रीतिं मलयमारुतः ।
ननु दाक्षिण्यसपन्न सर्वस्य भवति प्रिय ।।१७४।।

अर्थ—मलय पवन मनुष्यो में प्रसन्नता उत्पन्न करती है। दक्षिण दिशा से सम्पर्क होने के कारण (उदारता आदि गुणो से सपन्न होने के कारण) दक्षिण नायक निश्चय ही सबका प्रिय होता है। यह श्लेषा-विद्ध अर्थान्तरन्यास है।

टिप्पणी—यहाँ पर श्लेषपदयुक्त उत्तरवाक्य का पूर्ववाक्य से समर्थन होने से यह श्लेषाविद्ध अर्थान्तरन्यास है।

जगदानन्दयत्येष मलिनोऽपि निशाकर ।
अनुगृह्णाति हि परान् सदोषोऽपि द्विजेश्वर. ॥१७५॥

अर्थ—कलकित (धब्बो से युक्त) होता हुआ भी चन्द्रमा ससार को आनन्दित करता है। दोषयुक्त होता हुआ भी ब्राह्मणश्रेष्ठ (द्विजराज)दूसरो को अनुगृहीत करता है।(यह विरोधवान् अर्थान्तरन्यास है।)

टिप्पणी—यदि हम यहाँ पर 'सदोष' का अर्थ रात्रि तथा 'द्विजेश्वर' का अर्थ चन्द्र लें तो रात्रियुक्त 'चन्द्र' यह उत्तरार्द्ध वाक्य का अर्थ सामान्यरूप से 'चन्द्रमा आनन्दित करता है' इस पूर्वार्द्ध के विशेष अर्थ का समर्थन करता है। यहाँ पर पूर्वार्द्ध यह प्रकृत विरोध है कि जो स्वय मलिन है वह दूसरो को कैसे आनन्दित कर सकता है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में भी प्रकृत विरोध है। 'मलिन चन्द्र द्वारा आनन्दित किया जाना' यह विशेष 'सदोष ब्राह्मण द्वारा अनुगृहीत किया जाना' इस सामान्य से समर्थित किया गया है। इस प्रकार विरुद्ध अर्थ के समर्थन से यह विरोधवान् अर्थान्तरन्यास है।

मधुपानकलात् कण्ठान्निर्गतोऽप्यलिनां ध्वनि ।
कटुर्भवति कर्णस्य कामिना पापमीदृशम् ॥१७६॥

अर्थ—मधु-पान से मधुर हुई भौरो के कठ से निकली हुई ध्वनि भी कामियो के कानो को दु खदायी प्रतीत होती है। पाप ऐसा ही होता है अर्थात् (दु खदायी होता है)।

टिप्पणी—यहाँ पाप के दु खदायी-रूप सामान्य अर्थ के द्वारा भौंरे की मधुर-ध्वनि रूप विशेष अर्थ का समर्थन होने से अयुक्तकारी नामक अर्थान्तरन्यास है।

अयं मम दहत्यङ्गमम्भोजदलसस्तर ।
हुताशनप्रतिनिधिर्दाहात्मा ननु युज्यते ॥१७७॥

अर्थ—यह अग्नि के सदृश रूप वाले कमल के पत्तो से निर्मित शय्या मेरे अगों को दहन करती है इसकी दाहात्मकता की प्रकृति निश्चय ही है।

टिप्पणी—यहाँ पर कमलदल की शय्या का, अग्नि का प्रतिनिधि होने से अगो का दहन करना ठीक ही है जिसमें कि सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन किया गया है। यह औचित्ययुक्त अर्थात् युक्तात्मा नामक अर्थान्तरन्यास है।

क्षिणोतु काम शीताशु किं वसन्तो दुनोति माम्।
मलनाचरित कर्म सुरभेर्नन्वसाप्रतम् ॥१७८॥

अर्थ—चन्द्रमा खूब पीडित करता रहे (क्योकि उसका कलंकित होने से दूसरो को सताना ठीक ही है) पर वसन्त क्यो मुझको सताता है, श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) द्वारा (वसन्त द्वारा) मलिन (पापी) से किये हुए कार्य का किया जाना निश्चय ही युक्तियुक्त नही।

टिप्पणी—यहाँ पर उत्कृष्ट के द्वारा बुरे कार्य का किया जाना युक्तियुक्त नही पापी के द्वारा बुरे काम का किया जाना युक्तिसगत है। अत यहाँ पर युक्तायुक्त नामक अर्थान्तरन्यास है।

कुमुदान्यपि दाहाय किमय कमलाकरः।
न हीन्दुगृह्येषूग्रेषु सूर्यगृह्यो मृदुर्भवेत् ॥१७९॥

अर्थ—जबकि कुमुद भी (जोकि चन्द्र द्वारा विकसित होता है इस लिए ठडे भी होते हैं) दहन करने वाले होते हैं तब यह सूर्य द्वारा विकसित कमल-समूह जलाने वाला न हो यह कैसे हो सकता है, क्योकि यह तो स्वय भी गर्म होता है (अत· कमलो के द्वारा विरही मनुष्य का जलना आश्चर्य में डालने वाला नही।) जबकि चन्द्रमा के पक्ष वाले जलाने वाले है तो सूर्य के पक्ष वाले मृदु नही होंगे।

टिप्पणी—यहाँ पर समर्थ वाक्य में कुमुदो में अयुक्तपन का तथा कमलो में युक्तपन का प्रदर्शन किया गया है। इसमें उत्तरार्द्ध—रूप सामान्य वाक्य से पूर्वार्द्ध-रूप विशेष बात का समर्थन किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में विपरीत (अर्थात् अयुक्तायुक्त) नामक अर्थान्तरन्यास अलकार है।

[व्यतिरेक]

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयो. ।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेक स कथ्यते ॥१८०॥

अर्थ—जब दो (उपमान उपमेयभूत) वस्तुओ में (साधारणधर्म के प्रतिपादक 'इव' आदि) शब्दो के प्रयोग से सादृश्य की अभिव्यक्ति अथवा प्रतीति मात्र हो, वहाँ पर उन दोनो में जो भिन्नता का प्रतिपादन किया जाता है वह व्यतिरेक कहलाता है।

टिप्पणी—सक्षेप में यो कह सकते हैं कि जहाँ उपमान तथा उपमेय के उत्कर्ष या अपकर्ष की द्योतक विशिष्टता का कथन किया जाय उसे व्यतिरेक कहते हैं। विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार कहा है कि उपमेय की अधिकता तथा उपमान की न्यूनता जहाँ कथन की जाय वहाँ व्यतिरेक अलकार होता है। किन्तु दडी के मतानुसार व्यतिरेक केवल उपमान और उपमेय की भिन्नता दर्शित करता है।

धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वत ।
गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥१८१॥

अर्थ—धीरता, सौंदर्य तथा गभीरता आदि प्रमुख गुणो से तू समुद्र के ही तुल्य है। भेद तो तेरे ऐसे सुन्दर शरीर से ही है।

इत्येकव्यतिरेकोऽय धर्मेणैकत्रवर्तिना ।
प्रतीतिविषयप्राप्तेर्भेदस्योभयवर्तिन' ॥१८२॥

अर्थ—एक उपमेय में ही स्थित (सुन्दर शरीर-रूप) धर्म के द्वारा दोनो के बीच में होने वाले (उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के अपकर्ष-रूप) भेद की प्रतीति होने से यह एकव्यतिरेक है।

अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि ।
असावञ्जनसङ्काशस्त्वं तु चामीकरद्युति ॥१८३॥

अर्थ—समुद्र तथा आप दोनो ही अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करने वाले तथा गभीर है, पर यह समुद्र अजन के समान काला है और

आप सुवर्ण की सी काति वाले है।

उभयव्यतिरेकोऽयमुभयोर्भेदको गुणौ ।
कार्ष्ण्यं पिशङ्गता चोभौ यत् पृथग्दर्शिताविह ॥१८४॥

अर्थ—यहाँ पर दोनो (उपमान उपमेय) के कालेपन तथा पीलेपन दो भेदक गुणो का जो पृथक्-पृथक् निदर्शन किया गया है इसलिए उभयव्यतिरेक है।

टिप्पणी—यहाँ पर विरुद्ध धर्म के प्रतिपादन करने से दोनो में प्रतीति स्पष्ट हो जाती है अत यह व्यतिरेक अलकार है।

त्व समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्त्वौ सतेजसौ ।
अय तु युवयोर्भेद स जडात्मा पटुर्भवान् ॥१८५॥

अर्थ—तुम और समुद्र दोनो दुर्निवार (दुर्दमनीय, जलवेग अनिव णीय), महासत्त्वयुक्त (अत्यन्त सामर्थ्यवान्, बडे जन्तुओ से युक्त), त तेज-युक्त (महाप्रतापी, वडवाग्नियुक्त) हो। तुम दोनो में भेद तो के यह है कि वह (समुद्र)तो जलमय स्वरूप वाला (शीतल) है और चतुर (अतिवेगवान्) है।

स एष श्लेषरूपत्वात् सश्लेष इति गृह्यताम् ।
साक्षेपश्च सहेतुश्च दश्यंते तदपि द्वयम् ॥१८६॥

अर्थ—श्लेषयुक्त स्वरूप होने के कारण इस पूर्वप्रदर्शित (उदाहर को सश्लेष व्यतिरेक जानना चाहिए। साक्षेप और सहेतु ये दोनो व्या रेक भी बतलाये जाते है।

स्थितिमानपि धीरोऽपि रत्नानामाकरोऽपि सन् ।
तव कक्षा न यात्येव मलिनो मकरालय ॥१८७॥

अर्थ—मलिन समुद्र मर्यादावान्, धीर (प्रशान्त) तथा रत्नो उत्पत्ति स्थान होता हुआ भी तेरे साथ सादृश्य को प्राप्त नही सकता।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में उपमानगत मलिन-रूप धर्म के कार राजा से उसके सादृश्य का प्रतिषेध किया गया है। इससे राजा का उत्

वढता है। अत यहाँ पर सहेतु व्यतिरेक है।

वहन्नपि महीं कृत्स्ना सशैलद्वीपसागराम् ।
भर्तृभावाद्भुजङ्गानां शेषस्त्वत्तो निकृष्यते ।।१८८।।

अर्थ—पर्वत, द्वीप तथा समुद्र से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी को वहन करता हुआ भी भुजगो का राजा होने के कारण (अनन्त) शेषनाग आपसे निकृष्ट है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में भुजगो का राजा होने रूप धर्म का उपमान अपकर्ष का कारण हरने से सहेतुव्यतिरेक अलकार है।

शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकोऽयमीदृश. ।
प्रतीयमानसादृश्योऽप्यस्ति सोऽप्यभिधीयते ।।१८९।।

अर्थ—ये इस प्रकार के साधारणधर्म के वाचक शब्दो द्वारा समानता या सादृश्य की अभिव्यक्ति करने वाले व्यतिरेक हुए। प्रतीतिमात्र द्वारा होनेवाला सादृश्य भी है, वह भी कहा जाता है।

त्वन्मुखं कमलं चेति द्वयोरप्यनयोर्भिदा ।
कमल जलसरोहि त्वन्मुखं त्वदुपाश्रयम् ।।१९०।।

अर्थ—तेरे मुख और कमल इन दोनो में यही भेद है कि कमल जल में उत्पन्न होता है और तुम्हारा मुख तुम्हारे ही आधार पर है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में समानधर्म के कथन न करने पर भी मुख तथा कमल के साम्य की प्रसिद्धिवश प्रतीति होने से सादृश्य व्यतिरेक है।

अभ्रू विलासमस्पृष्टमदरागं मृगेक्षणम् ।
इद तु नयनद्वन्द्वं तव तद्गुणभूषितम् ।।१९१।।

अर्थ—हरिण के नेत्र भौंह की लीला के विलास से रहित तथा मदिरा के मद से लाल नही हैं। पर तुम्हारे ये नयनयुगल तो इन दोनो गुणो से विभूषित हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयगत गुण-विशेष के द्वारा कविप्रसिद्ध मृग के नेत्रो से समानता का निषेध किया गया है, अत यहाँ पर प्रतीतिमात्र

सादृश्य व्यतिरेक है ।

पूर्वस्मिन् भेदमात्रोमितरस्मिन्नाधिक्यदर्शनम् ।
सदृशव्यतिरेकश्च पुनरन्यः प्रदर्श्यते ॥१९२॥

अर्थ—पहले उदाहरण (त्वन्मुख आदि) में उपमान उपमेय में भेदक-रूप धर्म मात्र का कथन किया गया है और दूसरे उदाहरण (अभ्रू-विलास आदि) में उपमेय-उपमान में उत्कर्ष-अपकर्ष-रूप गुण के आधिक्य का प्रदर्शन किया गया है । फिर एक और सदृश व्यतिरेक दिखाया जाता है ।

त्वन्मुखं पुण्डरीकं च फुल्ले सुरभिगन्धिनी ।
भ्रमद्भ्रमरमम्भोज लोलनेत्र मुख तु ते ॥१९३॥

अर्थ—तेरा मुख तथा कमल दोनो प्रफुल्लित तथा सुरभिगधयुक्त हैं। कमल पर तो भौंरे मँडरा रहे हैं और तेरा मुख चचल नेत्रयुक्त है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में भौरो का मँडराना तथा नेत्रो की चचलता ये दोनो प्राय समान ही है, विरुद्ध नही । अत यह शब्दयुक्त सदृश व्यतिरेक है ।

चन्द्रोऽयमम्बरोत्तसो हसोऽयं तोयभूषणम् ।
नभो नक्षत्रमालीदमुत्फुल्लकुमुद पय ॥१९४॥

अर्थ—यह चन्द्र आकाश का भूषण (चूडामणि) है और यह हस जल की शोभा का सम्पादक है । यह आकाश ताराओ की माला से विभूषित है और जल में अरविन्द विकसित है।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमान-उपमेय-भूत चन्द्र व हस तथा आकाश और जल का सादृश्य अर्थ के द्वारा प्रतीत होता है, यह अर्थयुक्त सदृश व्यतिरेक है ।

प्रतीयमानशौक्ल्यादिसाम्ययोश्चन्द्रहसयो ।
कृत प्रतीतशुद्ध्योश्च भेदोऽस्मिन् वियदम्भसो ॥१९५॥

अर्थ—इस ('चन्द्रोयम्' आदि) उदाहरण में चन्द्र तथा हस की प्रतीयमान शुक्लता आदि के द्वारा समानता तथा प्रतीत होती हुई शुद्धता से आकाश तथा जल में भिन्नता की गई है ।

टिप्पणी—यह अर्थयुक्त सदृश व्यतिरेक है।

चन्द्र का आश्रय आकाश है तथा हस का आश्रय जल है। इसी से ही भिन्नता स्पष्ट है।

पूर्वत्र शब्दवत् साम्यमुभयत्रापि भेदकम् ।
भृङ्गनेत्रादितुल्य तत् सदृशव्यतिरेकता ॥१९६॥

अर्थ—पहले ('त्वन्मुख' आदि) इस उदाहरण में उपमान तथा उपमेय दोनो का समानधर्मवाचक शब्दो के द्वारा साम्य दिखाया गया है, इनमें विभिन्नता दिखाने वाले भ्रमर, नेत्र आदि समान है। अत यह शब्दयुक्त सादृश्यबोधक व्यतिरेक है।

अरत्नालोकसहार्यमहार्यं सूर्यरश्मिभि. ।
दृष्टिरोधकर यूना यौवनप्रभवं तम. ॥१९७॥

अर्थ—तरुण पुरुषो का यौवन-प्रसूत मोह रूपी अन्धकार न तो रत्नो के आलोक से नष्ट किया जा सकता है और न ही सूर्य-रश्मियो द्वारा परित्याज्य है तथा दृष्टि-ज्ञान पर आवरण डालने वाला है अर्थात् अवरोध करने वाला है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में श्लेष के द्वारा 'तम' इस शब्द से 'मोह' तथा 'अधकार' रूप विरुद्ध धर्मों के कथन किये जाने की साम्यता के प्रतिपादन के कारण सजातीय व्यतिरेक है।

सजातिव्यतिरेकोऽय तमोजातेरिद तम· ।
दृष्टिरोधितया तुल्य भिन्नमन्यैरदर्शि यत् ॥१९८॥

अर्थ—जिस दृष्टि के अवरोध के कारण तुल्य यह मोह रूपी अधकार प्रदर्शित किया गया है, अन्य साधारणधर्मों से युक्त यह अधकार जाति से भिन्न प्रदर्शित किया गया है। अतः यह सजाति व्यतिरेक है।

टिप्पणी—यहाँ पर दृष्टि पर आवरण डालने के कारण दोनो अधकारो में साम्यता है। साधारणधर्मभूत रत्न आदि के प्रकाश द्वारा निराकरण न होने रूप वैधर्म्य के कारण भिन्नता लक्षित होती है। इसलिए यह सजातिव्यतिरेक है।

[विभावना]

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या   यत्किंचित्कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्व वा विभाव्य सा विभावना ॥१६६॥

अर्थ—जहाँ पर प्रसिद्ध कारण के अभाव होने पर जिस किसी कारणान्तर की या उसके स्वभावतः सिद्ध होने की विभावना कर ली जाती है वह विभावना होती है।

टिप्पणी—दर्पणकार ने विभावना अलकार की परिभाषा इस प्रकार की है :

"विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।"

जहाँ बिना हेतु के कार्य की उत्पत्ति होती है वहाँ विभावना अलकार होता है।

अपीतक्षीबकादम्बमसमृष्टामलाम्बरम्   ।
अप्रसादितशुद्धाम्बु   जगदासीन्मनोहरम्   ॥२००॥

अर्थ—(शरत्कालीन) ससार मदिरापान न (करने पर भी मदमस्त-हस-विशेषो से युक्त), अपरिष्कृत होने पर भी निर्मल आकाश से युक्त तथा स्वच्छ न किये जाने पर शुद्ध जल से युक्त होने के कारण मनोहर था।

टिप्पणी—यहाँ पर मदमस्त होने के कारण मदिरापान करना, निर्मल आकाश का कारण परिष्कृत किया जाना तथा शुद्ध जल का कारण स्वच्छ किया जाना आदि प्रसिद्ध कारणो के अभाव में फलोत्पत्ति का होना शरत्काल-रूप कारणान्तर की भावना के कारण है। अत यहाँ पर विभावना अलकार है।

अनञ्जिताऽसिता   दृष्टिर्भ्रूर्नावर्जिता नता   ।
अरञ्जितोऽरुणश्चायमधरस्तव   सुन्दरि !   ॥२०१॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! तुम्हारी आँखें अजन न लगाने पर भी काली तथा भौंहें न सिकोडने पर भी टेढी है और अधर न रगे जाने पर भी लाल हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर काले होने का कारण अजन लगाना, टेढे होने का

का कारण सिकोड़ना और लाल होने का कारण रगा जाना आदि के अभाव के कारण भी फलोत्पत्ति का होना, जोकि स्वाभाविक है, वर्णित किया गया है। अत यहाँ पर स्वाभाविक विभावना अलकार है।

यदपीतादिजन्य स्यात् क्षीवत्वाद्यन्यहेतुजम् ।
अहेतुकञ्च तस्येह विवक्षेत्यविरुद्धता ॥२०२॥

अर्थ—पूर्वोक्त उदाहरण में मदिरापान आदि से न उत्पन्न होकर मदमस्तता अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुई हो या बिना कारण के स्वत: सिद्ध हुई हो, यहाँ पर उसके कथन की इच्छा विरोधी भाव नही है।

टिप्पणी—यहाँ पूर्वोक्त उदाहरणों में लक्षण घटाकर विरोध का परिहार किया गया है।

वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम् ।
अकारणरिपुश्चन्द्रो निर्निमित्तासुहृत् स्मर ॥२०३॥

अर्थ—मुख स्वभाव से ही सुगन्धयुक्त है और शरीर बिना बनाव-शृङ्गार के ही सुन्दर है। चन्द्र बिना कारण ही शत्रु है, और कामदेव अकारण ही मित्र है।

निसर्गादिपदैरत्र हेतु साक्षान्निवर्तित. ।
उक्त च सुरभित्वादि फल तत् सा विभावना ॥२०४॥

अर्थ—यहाँ पर स्वभाव आदि पदो से कारणो का स्पष्ट निषेध किया गया है और सुगन्धि आदि फलो का उल्लेख किया गया है, इस कारण से यह विभावना है।

टिप्पणी—यहाँ पर कारण के निषेधपूर्वक स्वाभाविक रूप से ही फलोत्पत्ति होने से विभावना अलकार है।

[समासोक्ति]

वस्तु किञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन. ।
उक्ति सक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ॥२०५॥

अर्थ—किसी (प्रस्तुत या अप्रस्तुत) वस्तु को लक्ष्य करके उस अभि-

मधुर जलयुक्त (मनोहर चित्तवृत्तियुक्त) समुद्र समय (मृत्यु) द्वारा सुखाया (विनष्ट किया) जा रहा है।

टिप्पणी—पूर्वोक्त अभिन्न विशेषणयुक्त समासोक्ति में विशेषण वास्तविक है पर इसमें वास्तविक गुणो का निरोध करनेवाले कल्पित विशेषण हैं।

इत्यपूर्वसमासोक्ति पूर्वधर्मनिवर्तनात् ।
समुद्रेण समानस्य पुसो व्यापत्तिसूचनात् ॥२१३॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वप्रसिद्ध धर्मों के कथन न करने से अर्थात् उनके विरुद्ध धर्मों के कथन से, समुद्र के समान पुरुष के विनाश के सूचित किये जाने से यह प्रथमवर्णित समासोक्ति से विपरीत अपूर्व समासोक्ति है।

टिप्पणी—यहाँ पर पूर्वप्रसिद्ध धर्मों का कथन नही किया गया। समुद्र में साँप होते है तथा खारी जल होता है। इन प्रसिद्ध धर्मों का प्रतिपादन न करके विपरीत धर्मों का कथन किया गया है।

[अतिशयोक्ति]

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्ति स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ॥२१४॥

अर्थ—लोकमर्यादा का उल्लघन करके प्रस्तुत वस्तुगत उत्कर्ष के वर्णन करने की इच्छा, अलकारो में उत्तम अतिशयोक्ति कहलाती है।

टिप्पणी—अग्निपुराण में इसकी परिभाषा इस प्रकार है—

"लोकसीमातिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम् ।
भवेदतिशयो नाम सम्भवोऽसम्भवोद्विधा" इति ॥

अर्थात् लोक-सीमा का अपरिवर्तन करके वस्तुगत धर्म के कथन करने को अतिशयोक्ति कहते है। यह सम्भव असम्भव दो प्रकार की होती है।

मल्लिकामालधारिण्य सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दना ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिका ॥२१५॥

अर्थ—मल्लिका की मालाओ को धारण किये हुए, सब अगो में आर्द्र (तरल) चन्दन का अवलेपन किये हुए तथा श्वेत वस्त्र धारण किये हुए

अभिसारिकाएँ चन्द्र-ज्योत्स्ना में दृष्टिगोचर नहीं होती।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रस्तुत चन्द्रज्योत्स्ना का वर्णन मल्लिका-मालाओ से युक्त श्वेतवस्त्रधारिणी अभिसारिकाओ के वर्णन से अभिन्न होने पर भी कुछ अधिक उत्कर्षयुक्त प्रतीत होता है। अथवा इस प्रकार की चन्द्र की ज्योत्स्ना में अभिसारिकाओ का न दिखाई देना असम्भव होने पर भी उनके दृष्टिगत होने से प्रस्तुत-रूप चन्द्र-ज्योत्स्ना के श्वेत-गुण का कुछ अधिक उत्कर्ष प्रतीत होता है।

चन्द्रातपस्य वाहुल्यमुक्तमुत्कर्षवत्तया।
सशयातिशयादीना व्यक्तौ किंचिन्निदर्श्यते ॥२१६॥

अर्थ—चन्द्र की ज्योत्स्ना का मल्लिका आदि से अधिक उत्कर्ष होने के कारण बहुलता से कथन किया गया है। अब सशयातिशयोक्ति आदि भेदो को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

स्तनयोर्जघनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये! तव।
अस्ति नास्तीति सन्देहो न मेऽद्यापि निवर्तते ॥२१७॥

अर्थ—हे प्रिये! तेरे स्तनो व जघनों के बीच में कटि है या नही यह मेरा सन्देह आज भी दूर नहीं होता।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में इस प्रकार के सशय के असम्भव होने पर भी उसकी कल्पना से मध्य भाग के अतिक्षीण होने की व्यजना होती है। अत यह सशयातिशयोक्ति है।

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्य तव नितम्बिनि!।
अन्यथानुपपत्त्यैव पयोधरभरस्थिते. ॥२१८॥

अर्थ—हे नितम्बिनी! भारी स्तनो की स्थिति बिना आश्रय के असम्भव होने से ही तुम्हारे कटि है, ऐसा निर्णय किया जा सकता है।

टिप्पणी—विस्तृत पयोधरो की निरवलम्ब स्थिति न होने से कटि भाग के अस्तित्व-निर्णय से असम्बन्धित होने पर भी उसकी कल्पना से कटि के अति क्षीण होने के निर्णय के कारण यह निर्णयातिशयोक्ति है।

अहो ! विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥२१९॥

अर्थ—हे राजन् ! तीनो लोको का उदर विशाल है। आश्चर्य है, क्योंकि यहाँ त्रिभुवनो के उदर में समाने में असमर्थ भी तेरा यशोपुंज समा जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में आश्रयरूप त्रिभुवनो के उदर की विशालता के प्रतिपादन से उसमें स्थित यशोराशि की अधिकता के द्योतन होने से यह आधिक्य-अतिशयोक्ति है।

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहु. परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥२२०॥

अर्थ—वाचस्पति द्वारा पूजित अर्थात् परम श्रेष्ठ इस अतिशयोक्ति को कवि लोग अन्य अलकारो की भी परम आश्रय कहते हैं अर्थात् यह अन्य अलकारो की भी उपकारक होती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक के अध्ययन से यह ध्वनित होता है कि सब अलकारो में सामान्यतः अतिशयोक्ति होती, ही है। इस प्रकार अतिशयोक्ति सब अलकारों की बीज-रूप है।

[उत्प्रेक्षा]

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥२२१॥

अर्थ—जब चेतन या अचेतन (प्रस्तुत रूप) की अन्य प्रकार से स्थित वर्तमान स्वाभाविक गुण-क्रिया आदि की अन्य प्रकार (अप्रस्तुत रूप) से सम्भावना की जाती है उसको उत्प्रेक्षा कहते है।

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार ने कहा है कि 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा' अर्थात् सम्भावना ही उत्प्रेक्षा है। दर्पणकार ने बताया है—

भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा द्विधा ॥ सा०द०१०।४०

किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में सम्भावना करने को

उत्प्रेक्षा कहते हैं। प्रथम उत्प्रेक्षा के दो भेद हैं १ वाच्या, २ प्रतीयमाना।

मध्यन्दिनार्कसन्तप्त. सरसीं गाहते गज.।
मन्ये मार्तण्डगृह्याणि पद्मान्युद्धर्तुमुद्यत ॥२२२॥

अर्थ—मध्याह्न के सूर्य-ताप से सतप्त हाथी तालाब में अवगाहन करता है। मानो वह सूर्य के पक्ष पर आश्रित कमलो को उखाडने के लिए सन्नद्ध हो गया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में सचेतन हाथी का स्नान तथा जलपान आदि के लिए सरोवर में अवतरण करना सूर्य से वैर निकालने के लिए है। इस प्रकार कवि द्वारा सम्भावना की गई है अतः यह उत्प्रेक्षा है। कुछ लोग यहाँ पर प्रत्यनीक की उद्भावना करके दोनो का सकर मानते हैं पर दडी ने यह अस्वीकार किया है।

स्नातुं पातुं विसान्यत्तुं करिणो जलगाहनम्।
तद्वैरनिष्क्रयायेति कविनोत्प्रेक्ष्य वर्ण्यते ॥२२३॥

अर्थ—हाथी का स्नान जलपान, तथा कमलनाल खाने के लिए जल में उतरना कवि द्वारा उस वैर के निराकरण के लिए इस प्रकार उत्प्रेक्षा करके वर्णित किया गया है।

टिप्पणी—इस प्रकार उत्प्रेक्षा के लिए जो सामग्री आवश्यक है वह सब प्रस्तुत उदाहरण में उपस्थित की गई है अत यहाँ पर उत्प्रेक्षा की योजना अनुकूल है। यह चेतन की क्रिया-विषयक उत्प्रेक्षा है।

कर्णस्य भूषणमिदं ममायतिविरोधिनः।
इति कर्णोत्पलं प्रायस्तव दृष्ट्या विलङ्घ्यते ॥२२४॥

अर्थ—यह कर्ण का आभूषण मेरे (नेत्रो के) विस्तार का विरोधी है इस कारण से शायद तेरे नेत्रो द्वारा कर्णभूषण विलघित किया जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'प्राय' यह शब्द उत्प्रेक्षावाचक है।

अपाङ्गभागपातिन्या दृष्टेरंशुभिरुत्पलम्।
स्पृश्यते वा न वेत्येव कविनोत्प्रेक्ष्य वर्ण्यते ॥२२५॥

अर्थ—नेत्रो के प्रान्त-भाग से पडती हुई दृष्टि की किरणो द्वारा कर्ण-कमल छुआ जाता है या नही, यह कवि द्वारा इस प्रकार उत्प्रेक्षा की जाकर वर्णित किया गया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में अचेतन की गुण-विषयक उत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा-द्योतक 'वा' आदि शब्दो के प्रयोग के अभाव में भी प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है, ऐसा साहित्य-दर्पणकार ने कहा है।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जन नभ ।
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम् ॥२२६॥

अर्थ—अधकार मानो अगो पर अवलेपन कर रहा है, आकाश मानो अजन बरसा रहा है। इस प्रकार यह पद भी सम्यक् प्रकार से उत्प्रेक्षा के लक्षण से युक्त है।

टिप्पणी—यहाँ पर अचेतन अधकार का व्यापन-रूप धर्म 'लेपन' द्वारा सम्भावित किया गया है तथा अधकार का 'नीचे फैलना' रूप धर्म आकाश द्वारा अजन वर्षा-रूप के द्वारा सम्भावित किया गया है। इस प्रकार दोनो जगह विषय का कथन नही किया गया। अत. यह अनुपादान-विषया-स्वरूप उत्प्रेक्षा है।

केषाञ्चिदुपमाभ्रान्तिरिव श्रुत्येह जायते ।
नोपमान तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम् ॥२२७॥

अर्थ—यहाँ पर 'इव' शब्द के प्रयोग द्वारा 'तिङन्त शब्द के प्रति-पादन से उपमान का बोध नही होता' प्रामाणिक 'विद्वानो' के इस वचन को अतिक्रमण करने वाले कुछ लोगो को इसमें उपमा की भ्रान्ति हो जाती है।

टिप्पणी—उपमा में उपमान का सिद्धत्व आवश्यक है पर यहाँ तो साध्यत्व है इस प्रकार 'इव' शब्द के प्रयोग के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा स्पष्ट है। आप्तभाषित से यहाँ तात्पर्य भगवान् पतञ्जलि से है, जिन्होने अपने सूत्र 'धातो कर्मण' इत्यादि में 'न तिङन्तेन उपमान' यह कहा है।

उपमानोपमेयत्वं तुल्यधर्मव्यपेक्षया ।
लिम्पतेस्तमसश्चासौ धर्म. कोऽत्र समीक्ष्यते ॥२२८॥

अर्थ—समान गुण आदि रूप साधारणधर्म के अनुरोध से उपमान-उपमेयत्व होता है। 'लिम्पति' में लीपना इस क्रियावाचक पद तथा अधकार में कौनसा साधारणधर्म है यह कौन जान सकता है, अर्थात् कोई नहीं।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमा की शका को निवारण करने के लिए यह युक्ति प्रस्तुत की गई है। यहाँ साधर्म्य के अभाव के कारण उपमा की शका ही नही उठती।

यदि लेपनमेवेष्ट लिम्पतिर्नाम कोऽपर ।
स एव धर्मो धर्मी चेत्यनुन्मत्तो न भाषते ॥२२९॥

अर्थ—यदि लेपन ही साधारणधर्म के तौर पर अभीष्ट है तो उससे भिन्न 'लिम्पति' नामक साधारणधर्म वाली उपमान-रूप क्रिया (धर्मी) क्या है ? वही धर्म और धर्मी दोनो है, ऐसा विचारवान् मनुष्य नही कहता।

टिप्पणी—अत इस प्रकार के स्थलो पर एक ही अर्थ में धर्मी तथा धर्म की कल्पना विद्वानो द्वारा नही की गई। इस तरह यहाँ पर साधारण धर्म की अप्रतीति के कारण उपमा की शका नहीं करनी चाहिए।

कर्ता यद्युपमान स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे ।
स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम् ॥१३०॥

अर्थ—कर्ता यदि उपमान हो तो क्रिया-पद (लेपन करना) में लुप्त है, वह अपनी क्रिया के साधन में ही व्यग्र है अत दूसरे के कार्य के (उपमान-उपमेय होना) कहने में असमर्थ है।

यो लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यपि शसत ।
अङ्गानीति न सम्बद्ध सोऽपि मृग्य समो गुण. ॥२३१॥

अर्थ—जो 'लिम्पति' इस क्रियावाची पद से कर्ता का आक्षेप किया जाता है उस उपमान से अधकार की समता का वर्णन करता है। उसके 'लिम्पति' और 'तम' इन दोनो को परस्पर उपमान-उपमेय का कथन करते हुए 'अगानि' यह शब्द असम्बद्ध है। (अत उपमेय में सम्बन्ध के अभाव

मनोहर वस्तुओ में अरुचि हो गई है ऐसे मनुष्यो के विनाश के साधन में समर्थ हुआ ।

निर्वर्त्ये च विकार्ये च हेतुत्व तदपेक्षया ।
प्राप्ये तु कर्मणि प्राय· क्रियापेक्षैव हेतुता ॥२४०॥

अर्थ—उत्पत्ति होने में और विकृति (रूप-परिवर्तन के) होने में उस कर्म के सम्पादन में हेतुत्व अपेक्षित है पर जिसे केवल प्राप्त करना है ऐसे कर्म में हेतुता प्राय क्रिया द्वारा ही अपेक्षित है ।

टिप्पणी—प्राचीन वैयाकरण निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य—ये तीन प्रकार के कर्म मानते हैं । जिसमें 'कपडा बुनता है', 'पुत्र उत्पन्न करता है' इत्यादि निर्वर्त्य कर्म हैं, 'काष्ठ को जलाता है', 'सुवर्ण से कुण्डल बनाता है' इत्यादि विकार्य कर्म और 'घर को जाता है', 'सूर्य को देखता है' इत्यादि प्राप्य कर्म हैं ।

हेतुर्निर्वर्त्तनीयस्य दर्शित शेषयोर्द्वयो ।
दत्त्वोदाहरणद्वन्द्व ज्ञापको वर्णयिष्यते ॥२४१॥

अर्थ—(प्रीति-रूप) उत्पत्ति वाले कर्म का हेतु दिखा दिया गया है । शेष दो (विकार और प्राप्ति) के दो उदाहरण देकर ज्ञापक का वर्णन किया जायगा ।

उत्प्रवालान्यरण्यानि वाप्य सम्फुल्लपङ्कजा. ।
चन्द्र पूर्णश्च कामेन पान्थदृष्टेर्विषं कृतम् ॥२४२॥

अर्थ—कामदेव के द्वारा प्रस्फुटित किसलय (पत्ते) आदि से युक्त जगल, विकसित कमलो से युक्त बावडियाँ तथा पूर्ण चन्द्र पथिकों की दृष्टि में विष-रूप में परिवर्तित कर दिये गये हैं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में जगल आदि में विष-रूप विकार का आरोप किया गया है । यहाँ पर विकार्य का हेतु दिखाया गया है ।

मानयोग्या करोमीति प्रियस्थानस्थिता सखीम् ।
बाला भ्रूभङ्गजिह्माक्षी पश्यति स्फुरिताधरा ॥२४३॥

अर्थ—अपने को मानिनी (मानसूचक आगिक भावो के अभ्यास)

के योग्य करती हूँ यह सोचकर बाला टेढ़ी भवो से, तिरछी नजरो से और फडकते हुए ओठो से प्रिय (पति) के स्थान पर कल्पित सखी को देखती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में सखी को उस प्राप्य कमपिक्षी बाला के उस तरह के सक्रोध निरीक्षण में हेतु जानना चाहिए। अत यह हेतु अलकार है।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण ।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥२४४॥

अर्थ—'सूर्य अस्त हो गया', 'चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है' तथा 'पक्षी अपने वासस्थानो (घोसलो) को जाते हैं'। इस प्रकार यह सब भी काल-विशेष (सध्या-समय) की अवस्था-निवेदन में उत्कृष्ट ही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण ज्ञापक हेतु का है। यह हेतु का दूसरा भेद है। यदि केवल इतना कह दिया जाय कि 'सन्ध्या हो गई है' तो वैचित्र्य-अभाव के कारण अलकार भी नही होगा।

अवाध्यैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम् ।
देहोष्मभि सुबोधं ते सखि! कामातुर मन· ॥२४५॥

अर्थ—हे सखी! चन्द्र-किरणो द्वारा अविनाश्य तथा चन्दन-जल द्वारा असाध्य शरीर की गर्मी से या सन्ताप से तेरा काम-पीडित मन सुबोध्य है अर्थात् उसके विकार का बोध स्पष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में ज्ञाप्य शब्द 'कामातुर' मनोरूप है और ज्ञापक 'देह-सन्ताप' है।

इति लक्ष्या. प्रयोगेषु रम्या ज्ञापकहेतव ।
अभावहेतव. केचिद्व्याह्रियन्ते मनोहरा. ॥२४६॥

अर्थ—इस प्रकार कवि-प्रयोगो से मनोहर ज्ञापक हेतु देखने चाहिएँ। कुछ रमणीय अभाव-हेतु कथन किये जाते हैं।

टिप्पणी—हमारे कवि द्वारा चार प्रकार के अभावो की कल्पना की गई है। वे हैं—प्राक् अभाव, प्रध्वस अभाव, अत्यन्त अभाव और अन्योन्य

अभाव । इनके उदाहरण क्रमश प्रस्तुत किये जाते हैं ।

अनभ्यासेन विद्यानामससर्गेण धीमताम् ।
अनिग्रहेण चाक्षाणा जायते व्यसन नृणाम् ॥२४७॥

अर्थ—विद्याओ के अपरिशीलन से, विपश्चितो के अससर्ग से और इन्द्रियो के असयम से मनुष्यो में दुष्प्रवृत्ति हो जाती है ।

टिप्पणी—यहाँ पर विद्या आदि का अभाव तो व्यसन है ही । विद्या आदि का अभाव-रूप में सबसे पहला होना व्यसन के प्रति हेतु है अत यहाँ पर प्राक् अभावहेतु है ।

गत· कामकथोन्मादो गलितो यौवनज्वर. ।
क्षतो मोहश्च्युता तृष्णा कृत पुण्याश्रमे मन ॥२४८॥

अर्थ—काम-कथा द्वारा उद्भूत उन्मत्तता चली गई, जवानी की गरमी क्षीण हो गई, ममत्व-बुद्धि नष्ट हो गई और विषयवासना लुप्त हो गई । अब पुण्याश्रम (सन्यासाश्रम) में मन लग गया है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में काम-कथा आदि के ध्वस-रूप अभाव, पुण्याश्रम में गमन के हेतुत्व हैं । अत यहाँ पर प्रध्वस-अभाव-हेतु-अलकार है ।

वनान्यमूनि न गृहाण्येता नद्यो न योषित ।
मृगा इमे न दायादास्तन्मे नन्दति मानसम् ॥२४९॥

अर्थ—ये वन हैं घर नही हैं, ये नदियाँ हैं स्त्रियाँ नही, ये मृग हैं सम्बन्धी नही है । इस कारण ये मेरे मन को आह्लादित करते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ पर वन-गृह आदि का अन्योन्य भेद से मन को आह्लादित करने में अन्योन्य-भाव-रूप-हेतु का कथन किया गया है ।

अत्यन्तमसदार्याणामनालोचितचेष्टितम् ।
अतस्तेषा विवर्धन्ते सतत सर्वसम्पद ॥२५०॥

अर्थ—सत्पुरुषो की विचारशून्य चेष्टाएँ सर्वथा अविद्यमान होती हैं अर्थात् विना विचारे वे कभी कार्य नही करते । इसलिए उनकी सब प्रकार की समृद्धि निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में आलोचना-विहीन चेष्टा का आत्यन्तिक अभाव समृद्धि की वृद्धि में हेतु-रूप में प्रस्तुत किया गया है अत यहाँ पर अत्यन्त-अभाव-हेतु अलकार है ।

उद्यानसहकाराणामनुद्भिन्ना न मञ्जरी ।
देय पथिकनारीणा सतिल सलिलाञ्जलि ॥२५१॥

अर्थ—उपवन के आम्रवृक्षो की मजरियाँ विकसित हो गई हैं (अर्थात् वसत का आगमन है तथा मजरियाँ उद्दीपक हैं ही), अत प्रोषितपतिका स्त्रियो को तिलयुक्त जलाजलि देनी चाहिए, (क्योकि मजरी के उद्दीपक होने से उनका मरण अब निश्चित है) ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में मजरी के अविकसित होने रूप अभाव के मरण हेतु-रूप में प्रस्तुत किये जाने के कारण यह अभाव-हेतु अलकार है ।

प्रागभावादिरूपस्य हेतुत्वमिह वस्तुन· ।
भावाभावस्वरूपस्य कार्यस्योत्पादन प्रति ॥२५२॥

अर्थ—यहाँ पर (पूर्वोक्त उदाहरणो में) भाव-अभाव-रूप कार्योत्पत्ति के प्रति प्राक् अभाव आदि रूप का हेतुत्व प्रदर्शित किया गया है ।

टिप्पणी—उपर्युक्त उदाहरणो में कारकहेतुत्व प्रदर्शित किया गया है ।

दूरकार्यस्तत्सहज कार्यानन्तरजस्तथा ।
अयुक्तयुक्तकार्यौ चेत्यसस्याश्चित्रहेतव. ॥२५३॥

अर्थ—जिसका कार्य दूर हो, उस कार्य के साथ हुआ हो, कार्य के अनन्तर हुआ हो, तथा उचित और अनुचित कार्य हो, इस प्रकार असख्य चित्रहेतु है ।

तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रया ।
अत्यन्तसुन्दरा दृष्टास्तदुदाहृतयो यथा ॥२५४॥

अर्थ—पूर्वोक्त ये चित्रहेतु सारोपा गौणी लक्षणा पर अवलम्बित प्रबन्ध रीतियो में अत्यन्त मनोहर दिखलाई देते हैं । उनके उदाहरण इस प्रकार है ।

त्वदपाङ्गाह्वय जैत्रमनङ्गास्त्र यदङ्गने ! ।
मुक्त तदन्यतस्तेन सोऽप्यहं मनसि क्षत ॥२५५॥

अर्थ—हे सुन्दरी, तेरा कटाक्ष नामक जय-साधन-रूप जो कामदेव का अस्त्र है वह तेरे द्वारा अन्य पुरुष पर छोडे जाने पर उससे वह और मैं भी हृदय से घायल हो गया हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ पर अस्त्र का लक्ष्य बेधन-रूप कार्य पास में हुआ है पर अलक्ष्य, अदृश्य बन्धन-रूप कार्य दूरी पर हुआ है अत यहाँ पर दूर-कार्यहेतु है ।

आविर्भवति नारीणा वय पर्यस्तशैशवम् ।
सहैव विविधै पुंसामङ्गजोन्मादविभ्रमै ॥२५६॥

अर्थ—शैशव अवस्था को पार करके स्त्रियो का यौवन पुरुषों के विविध प्रकार के कामजन्य मनोविकारो के विलासो के साथ ही आविर्भूत होता है ।

टिप्पणी—यहाँ पर पुरुषो के कामजन्य विलास के साथ ही, जो कि हेतु है, स्त्रियो के यौवन का आविर्भाव होता है । इसके उस कार्य के साथ होने से यहाँ सहजकार्य-हेतु है ।

पश्चात् पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम् ।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागर ॥२५७॥

अर्थ—मृगनयनियो का कामनासिंधु (चन्द्र-मण्डल के उदय से) पूर्व ही बढ गया, तदनन्तर किरणो को प्रसारित करके चन्द्र-मडल उदित हुआ है ।

टिप्पणी—यहाँ पर चन्द्रोदय के राग के उद्दीपक होने से कारणत्व है । और वह कार्यरूप राग के उदय होने के अनन्तर हुआ है । अत वह कार्य के अनन्तर होना रूप हेतु जानना चाहिए ।

राज्ञा हस्तारविन्दानि कुड्मलीकुरुते कुत ।
देव ! त्वच्चरणद्वन्द्वरागबालातप' स्पृशन् ॥२५८॥

अर्थ—हे देव, तुम्हारा चरण-युगल रूपी लालिमा-युक्त नवोदित सूर्य राजाओ के हस्त-रूपी कमलो को स्पर्श करते ही क्यो सकुचित कर देता है ?

टिप्पणी—मन्द सूर्यरश्मियो के स्पर्श से कमलो का विकास ही होता है, सकोच नही। यहाँ पर उस कारण का सकोच-रूप अनुचित है अतः यह अयुक्त-कार्य-हेतु है।

पाणिपद्मानि भूपाना सङ्कोचयितुमीशते ।
त्वत्पादनखचन्द्राणामर्चिषः कुन्दनिर्मला ॥२५९॥

अर्थ—कुन्द पुष्प के समान श्वेत तेरे चरणो के नख-चन्द्रो की किरणें, राजाओ के कर-कमलो को सकुचित करने में समर्थ है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में चन्द्र-किरण-रूप कारण का कमल-निमीलन-रूप कार्य उचित ही है। अत यहाँ पर युक्त-कार्य-हेतु है।

इति हेतुविकल्पाना दर्शिता गतिरीदृशी ॥२६०॥१॥

अर्थ—इस तरह हेतु अलकार के भेदो की पद्धति प्रदर्शित की गई।

[सूक्ष्म]

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थ सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृत· ॥२६०॥२॥

अर्थ—अभिप्राय-प्रकाशक शरीरावयवो की चेष्टा या अवस्था-विशेष के सूचक आतरिक भावो द्वारा लक्षित अर्थ की सूक्ष्मता के कारण यह सूक्ष्म अलकार माना गया है।

टिप्पणी—दर्पणकार ने सूक्ष्म की यह परिभाषा की है—

सलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥

सा० द० । १०।९१

आकार अथवा चेष्टा से पहिचाना हुआ सूक्ष्म अर्थ जहाँ किसी युक्ति से सूचित किया जाय वहाँ सूक्ष्म अलकार होता है।

कदा नौ सङ्गमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम् ।
अवेक्ष्य कान्तमबला लीलापद्म न्यमीलयत् ॥२६१॥

अर्थ—'कब हम दोनो का समागम (पुनर्मिलन) होगा' यह पूछे जाने पर जन-सकुल स्थान में कहने में असमर्थ, प्रिय को देख कर अबला ने क्रीडा में लिये हुए कमल को बन्द कर दिया ।

पद्मसमीलनादत्र सूचितो निशि सङ्गम ।
आश्वासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गजपीडितम् ॥२६२॥

अर्थ—यहाँ पर काम-परितप्त प्रिय को आश्वासन देने की इच्छा वाली नायिका द्वारा कमल-निमीलन से रात्रि में समागम होना सूचित किया गया है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में कमल-निमीलन-रूप इगित (चेष्टा) के द्वारा रात्रि में समागम होगा यह सूक्ष्मता द्वारा प्रिय को सूचित किया गया है अत यहाँ पर सूक्ष्म अलकार है ।

मदर्पितदृशस्तस्या गीतगोष्ठ्यामवर्धत ।
उद्दामरागतरला छाया कापि मुखाम्बुजे ॥२६३॥

अर्थ—सगीत-गोष्ठी में मेरी ओर दृष्टिबद्ध नेत्रयुक्त उसके मुख-कमल पर उद्दीप्त अनुराग से दर्पित अनिवर्चनीय कान्ति बढी ।

टिप्पणी—यहाँ पर मुख-कान्ति की विलक्षणता से नायिका की रति-उत्सव की अभिलाषा लक्षित होने के कारण यह सूक्ष्म अल-कार है ।

इत्यनुद्भिन्नरूपत्वात् रत्युत्सवमनोरथ ।
अनुल्लङ्घ्यैव सूक्ष्मत्वमभूदत्र व्यवस्थित ॥२६४॥

अर्थ—सूक्ष्मता का उल्लघन न करते हुए ही यहाँ अस्पष्ट रूप से इस प्रकार रति-उत्सव (काम-लीला) की अभिलाषा वर्णित की गई है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वर्णित इस प्रकार की मुख-कान्ति कामलीला की अभिलाषा व्यजित करती है, यह कोई नियम नही है । अन्य प्रकार की अभिलापाएँ भी सभावित हो सकती है । विशेष पर्यालोचन के

द्वारा देखने वाला कोई निपुण व्यक्ति ही इस अर्थ को समझने में समर्थ हो सकता है, अत सूक्ष्म अलकार है।

[लेश]

लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।
उदाहरणमेवास्य रूपमाविर्भविष्यति ॥२६५॥

अर्थ—अति न्यूनता (लेश-मात्र) से प्रकटित वस्तु (गोप्य विषय) के रूप को छिपाना लेश कहलाता है। इस अलकार का उदाहरण ही इसके स्वरूप को प्रकट करेगा।

टिप्पणी—कुछ लोग इसी को ही व्याजोक्ति कहते हैं वैसा प्रकाशकार ने कहा भी है—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।

का० प्र० १०।११८

व्याजोक्ति अलकार वह है जिसमें स्पष्टतया प्रकट वस्तुस्वरूप का भी किसी व्याज से छिपाकर वर्णन किया जाता है।

राजकन्यानुरक्त मा रोमोद्भेदेन रक्षका. ।
अवगच्छेयुरा ज्ञातमहो ! शीतानिल वनम् ॥२६६॥

अर्थ—रक्षकगण (राजकन्या के दर्शन से हुए मेरे) रोमाच के कारण मुझको राजकन्या में अनुरक्त जान जायेंगे, अच्छा जान लिया, ओह, वन ठडी हवा से युक्त है।

टिप्पणी—यहाँ पर रोमाच होना ठडी हवा के कारण है यह दिखा कर अनुराग को छिपाया गया है अत यहाँ पर अनिष्ट की आशकायुक्त लेश अलकार है।

आनन्दाश्रु प्रवृत्त मे कथ दृष्ट्वैव कन्यकाम् ।
अक्षि मे पुष्परजसा वातोद्धूतेन दूषितम् ॥२६७॥

अर्थ—इस कन्या को देखकर ही मेरे आनन्दाश्रु क्यो निकलने शुरू हो गये हैं। मेरी आँखें वायु के द्वारा उत्क्षिप्त पुष्प-पराग से दूषित

(युक्त) हैं ।

टिप्पणी—यहाँ आनन्द के आँसुओ का पुष्प-पराग-युक्त आँखो से निकलने का प्रतिपादन करके अनुराग का सवरण किया गया है, अत यहाँ पर लज्जा में लेश का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

इत्येवमादिस्थानेयमलङ्कारोऽतिशोभते ।
लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशत: कृताम् ॥२६८॥

अर्थ—इस प्रकार के स्थलो में यह अलकार अत्यधिक शोभा पाता है । कुछ विद्वान् लेश को छल के द्वारा की गई निन्दा या स्तुति (व्याजस्तुति) कहते हैं ।

टिप्पणी—कुछ विद्वानो का मत है कि यह लेश अलकार व्याजस्तुति है पर यह उपयुक्त नही । स्तुति या निन्दा के विधान किये जाने पर भी लेश अलकार ही मानना चाहिए ।

युवैष गुणवान् राजा योग्यस्ते पतिरूर्जित ।
रणोत्सवे मनः सक्त यस्य कामोत्सवादपि ॥२६९॥

अर्थ—यह राजा युवा, गुणवान् और तेज से युक्त तेरे योग्य पति है जिसका मन कामलीला से भी अधिक यद्धक्षेत्र में आसक्त रहता है ।

टिप्पणी—यद्यपि अत्यधिक वीरता के कारण उसकी स्तुति प्रतीत होती है पर वह कामलीला में अनासक्ति के व्याज से ही है । सभोग-सुख के लिए इसका वरण नही करना चाहिए यह द्योतित करके स्तुति द्वारा निन्दा-प्रतिपादन के कारण यहाँ लेश अलकार है ।

वीर्योत्कर्षस्तुतिर्निन्दैवास्मिन् भावनिवृत्तये ।
कन्याया कल्पते भोगान् निर्विविक्षोर्निरन्तरान् ॥२७०॥

अर्थ—प्रस्तुत पद्य में निरन्तर भोगो की इच्छा रखने वाली कन्या के मनोराग अथवा वरण करने के भाव को दूर करने के लिए वीरता के उत्कर्ष की स्तुति निन्दा के लिए ही है ।

चपलो निर्दयश्चासौ जन किं तेन मे सखि ! ।
आग प्रमार्जनायैव चाटवो येन शिक्षिता. ॥२७१॥

अर्थ—हे सखी ! यह मनुष्य (नायक) चचल तथा निर्दय है जिसने अपराध के निराकरण के लिए ही चाटूक्तियाँ सीखी हुई है, इसलिए मुझे उससे क्या (अर्थात् यदि मैं मान करूँ तो भी निरर्थक है क्योकि वह वहुत चतुर है, मेरे मान को शिथिल कर देता है ।)

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में निन्दा के व्याज से स्तुति का कथन किया गया है । अत यहाँ लेश अलकार है ।

दोषाभासो गुण. कोऽपि दर्शितश्चाटुकारिता ।
मानं सखिजनोद्दिष्ट कर्तुं रागादशक्तया ॥२७२॥

अर्थ—(प्रिय के) स्नेह के कारण सखियों द्वारा उपदिष्ट या सिखाये हुए मान को करने में असमर्थ नायिका द्वारा चाटुकारिता-रूप जो स्त्रियोचित गुण है, दोष-रूप में कहा गया है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में निन्दा के व्याज से स्तुति का वोध होता है । इस प्रकार यह लेश अलकार है ।

[यथासङ्ख्य]

उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।
यथासङ्ख्यमिति प्रोक्तं सङ्ख्यान क्रम इत्यपि ॥२७३॥

अर्थ—प्रथम-कथित पदार्थों का क्रमानुसार पीछे कथित पदार्थों के साथ सगतियुक्त होना यथासख्य या सख्यानक्रम कहलाता है ।

टिप्पणी—यथासख्य अलकार को ही सख्यानक्रम भी कहते हैं अर्थात् यह यथासख्य का पर्यायवाची है । भोजराज ने यथासख्य के स्थान पर क्रम शब्द का व्यवहार किया है ।

ध्रुवं ते चोरिता तन्वि ! स्मितेक्षणमुखद्युति ।
स्नातुमम्भ प्रविष्टाया कुमुदोत्पलपङ्कजैः ॥२७४॥

अर्थ—हे तन्वगी ! स्नान के लिए जल में प्रवेश करने पर तेरी मुस्कराहट, नेत्र तथा मुख की कान्ति श्वेत कमल, नील कमल तथा लाल कमल के द्वारा अवश्य ही चुराई गई है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वकथित पदार्थों के साथ बाद में कहे हुए पदार्थों की यथाक्रम सगति दिखाई गई है अर्थात् मुस्कराहट की श्वेत कमल से, नेत्र की नील कमल से तथा मुख की लाल कमल से सगति है अत यहाँ पर यथासख्य अलकार है।

[प्रेय : रसवत् : उर्जस्वी]

प्रेय प्रियतराख्यान रसवद् रसपेशलम् ।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कार युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ॥२७५॥

अर्थ—अत्यन्त प्रीतिकर भाव के कथन को प्रेय अलकार कहते है। रस के द्वारा रति आदि स्थायी भाव के रूप से उत्पन्न सहृदयो को आनन्द देने वाले भाव के कथन को रसवत् अलकार कहते है। जहाँ गर्व, अहकार की स्पष्ट अभिव्यक्ति की जाय वहाँ ऊर्जस्वी अलकार होता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनो अलकारो का उत्कर्ष उचित है अर्थात् इनको अलकारो के अन्तर्गत मानना सदोष नही।

टिप्पणी—उपर्युक्त भावो में देवादि-विषयक रति-भाव का प्रेय अलकार है तथा गर्व का उर्जस्वी नामक अलकार है। अवशिष्ट भावो का तथा रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशबलता आदि का रसवत् अलकार ही जानना चाहिए।

रस-भावो का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया गया है—विभाव अनुभाव व्यभिचारियो द्वारा व्यजित रति-हास-शोक आदि की चित्तवृत्ति-विशेष ही रस कहलाती है। कहा भी है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि ।
आनीयमान. स्वादत्व स्थायीभावो रस स्मृत. ॥

इसी प्रकार भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है 'विभावानुभावव्यभिचारीसयोगाद्रसनिष्पत्ति' अर्थात् विभाव, अनुभाव व्यभिचारियो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

१ सयोग से अर्थात् विभावो के द्वारा उत्पाद्य-उत्पादक-रूप-सम्बन्ध

से उत्पन्न अनुभावो के द्वारा गम्यगमक-भाव-रूप-सम्बन्ध से अभिव्यक्त, व्यभिचारियो के द्वारा पोष्य-पोषक-भाव-रूप-सम्बन्ध से पुष्ट हुआ स्थायी भाव रसनिष्पत्ति को प्राप्त होता है, यह भट्ट लोल्लट का मत है।

२ विभावादि के सयोग से गम्यगमक का भावरूप से अनुमाप्य-अनुमापक-भाव-रूप-सम्बन्ध से रस-निष्पत्ति होती है, यह श्री शकुक का मत है।

३. विभावादि के सयोग से भोज्य-भोजक-रूप-सम्बन्ध से रसनिष्पत्ति अर्थात् भुक्ति होती है यह भट्टनायक का मत है।

४. विभावादि के परस्पर सयोग से व्यग्यव्यजक-भाव-रूप-सम्बन्ध से रसनिष्पत्ति अर्थात् रस की अभिव्यक्ति होती है, यह श्री अभिनवगुप्त का मत है। यही मत काव्यशास्त्र में सर्वमान्य है।

(प्रेय)

अद्य या मम गोविन्द ! जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुन. ॥२७६॥

अर्थ—हे गोविन्द ! तेरे आज घर आने पर जो मुझे प्रसन्नता हुई है वह समयान्तर पर तेरे आने से फिर होगी।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में भगवद्-विषयक रतिभाव के वाक्य-भगिमा से सहृदयो के लिए अत्यन्त चमत्कार-विधायक होने से यहाँ प्रेय अलकार है।

इत्याह युक्त विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः ।
भक्तिमात्रसमाराध्य सुप्रीतश्च ततो हरिः ॥२७७॥

अर्थ—विदुरजी ने यह उपयुक्त कहा है—दूसरो में ऐसा धैर्य नही है। तव (उस विदुर के वचन से) केवल भक्ति-मात्र के द्वारा पूजनीय हरि सतुष्ट हुए।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में हरि-विषयक प्रीति का कथन है अत यहाँ प्रेय अलकार है।

सोम· सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम् ।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वा द्रष्टुं देव ! के वयम् ॥२७८॥

अर्थ—हे देव, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, पृथ्वी, आकाश, यजमान, अग्नि और जल—इन स्थूल रूपों को अतिक्रमण करके स्थित हुए परमात्मा-स्वरूप तुझको देखने के लिए हम कहाँ समर्थ हैं अर्थात् असमर्थ हैं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वक्ता की प्रीति का उदाहरण दिया गया है पर इससे पूर्व के उदाहरण में कथन को समझने वाले की प्रीति का उदाहरण दिया गया है । यहाँ प्रेय अलकार है ।

इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्राजवर्मण· ।
प्रीतिप्रकाशन तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥२७९॥

अर्थ—महेश्वर को साक्षात् (प्रत्यक्ष) देख लेने पर राजा राजवर्मा का इस प्रकार की प्रसन्नता को द्योतित करना यही प्रेम समझना चाहिए ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में भगवद्विषयक प्रेम-भाव का कथन किया गया है अत यहाँ प्रेय अलकार है ।

(रसवत्)

मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तु यया मे मरणं मतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥२८०॥

अर्थ—दिवगत समझकर परलोक में जिस प्रिया से मिलने की इच्छा से मरने का विचार कर रहा था वही अवन्ती राजकुमारी किसी प्रकार यहीं इसी जन्म में मुझे प्राप्त हो गई ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में रसवत् अलकार दिखाया गया है । रसो में क्योंकि शृगार-रस मुख्य है अत यहाँ पर सर्वप्रथम शृगार-रस के अन्तर्गत सभोग शृगार का उदाहरण वर्णित किया गया है । विश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ ।
यत्रानुरक्तावन्योऽन्य सम्भोगोऽयमुदाहृत

एक-दूसरे के प्रेम में पगे नायक और नायिका जहाँ परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि करते है वह सभोग शृगार कहलाता है।

यह विप्रलंभ के अन्तर्गत ही अत्यन्त पुष्टि को प्राप्त होता है जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है :

न विना विप्रलम्भेन सम्भोग. पुष्टिमश्नुते।
काषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्द्धते ॥—विश्वनाथ

प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेय रति शृङ्गारता गता।
रूपवाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वच. ॥२८१॥

अर्थ—पहले भगवद्‌विषयक प्रेम की व्यजना करनेवाली (न कि विभाव आदि से परिपुष्ट) प्रसन्नता प्रदर्शित की गई। वह उस प्रकार की देवादिविषयक पूर्वप्रदर्शित प्रीति विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि भावो की अधिकता के सम्बन्व से अलौकिक आनन्दप्रद होने से शृङ्गार-रसत्व को प्राप्त हुई। इस कारण से यह वचन रसवत् अलकार है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वासवदत्ता विभाव है, उसके द्वारा कथित मधुर वचन हास्य आदि अनुभाव तथा हर्ष-विस्मय आदि व्यभिचारी हैं। इनके द्वारा परिपुष्टता को प्राप्त हुआ रति नामक स्थायीभाव शृगार-रसत्व को पहुँचता है। शृङ्गार की परिभाषा है :

शृङ्गं हि मन्मथोद्‌भेदस्तदागमनहेतुक ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रस शृङ्गार इष्यते ॥ सा० द० ३।१८३

कामदेव के उद्‌भेद को शृङ्ग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकाश उत्तम प्रकृति मे युक्त रस 'शृगार' कहलाता है।

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।
सोऽयं दु शासन पापो लब्ध किं जीवति क्षणम् ॥२८२॥

अर्थ—जिसने मेरे सामने द्रौपदी को वालो से पकडकर खीचा था वह पापात्मा दु.शासन मिल गया है। क्या यह क्षणभर जीवित रहेगा ?

टिप्पणी—यह रौद्ररस का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः ।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ॥२८३॥

अर्थ—शत्रु (आलम्बन) को देखकर भीम का क्रोध (स्थायीभाव विभावादि के द्वारा) अत्यन्त उच्च अवस्था पर चढकर रौद्रत्व (रसत्व) को प्राप्त हो गया । इस प्रकार यह कथन रसवत् अलकार हुआ ।

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः ।
अदत्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेय पार्थिवः कथम् ॥२८४॥

अर्थ—समुद्रो सहित पृथ्वी को न जीतकर, अश्वमेध-प्रभृति अनेक यज्ञो के द्वारा यजन न करके और याचको को धन-वितरण न करके मै राजा कैसे हो सकता हूँ !

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण के द्वारा राजा का युद्धवीरत्व, धर्म-वीरत्व और दानवीरत्व वर्णित किया गया है ।

इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः ॥२८५॥

अर्थ—इस प्रकार से विभाव आदि से परिपुष्ट स्वरूप वाला उत्साह स्थायीभाव वीररस के रूप में परिणत होता हुआ इन कथनो में रसवत् अलकार को दृढ करने में समर्थ हुआ, अर्थात् रसवत् बना सका ।

टिप्पणी—यहाँ पर युद्ध में जीतने योग्य शत्रु, धर्म में यज्ञ और दान में याचक आदि आलम्बन विभाव हैं । हर्ष, धृति, स्मृति आदि व्यभिचारी हैं । इनके द्वारा अभिव्यक्त हुआ, उत्साह-रूप स्थायीभाव वीररसत्व को प्राप्त हुआ है ।

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी ।
साधिशेते कथं तन्वी हुताशनवतीं चिताम् ॥२८६॥

अर्थ—जिस कोमलागी को पुष्पो की शय्या भी कष्टप्रद होती थी वह तन्वगी प्रज्वलित चिता पर कैसे आरोहण करती है !

टिप्पणी—यह करुण-रस का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

इति कारुण्यमुद्रिक्तमलङ्कारतया स्मृतम् ।
तथापरेऽपि बीभत्सहास्याद्‌भुतभयानका. ॥२८७॥

अर्थ—इस प्रकार यहाँ विभाव आदि से परिपुष्ट करुण-रस का स्थायी भाव शोक रसवत् अलकार को प्राप्त हुआ । इसी प्रकार बीभत्स, हास्य, अद्‌भुत और भयानक भी होते हैं ।

टिप्पणी—यह करुण-रस है जिसका स्थायीभाव शोक है । इष्ट के नाश आदि से चित्त का विकलतायुक्त होना शोक कहलाता है ।

"इष्टनाशादिभिश्चेतो वैकल्यं शोक उच्यते ।"

यहाँ पर प्राणहीना तन्वगी आलम्बन विभाव पुष्प-शय्या आदि का स्मरण उद्दीपन विभाव, करुण वचन अनुभाव और चिन्ता आदि व्यभिचारी हैं । इनके द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुआ शोक नामक स्थायी भाव करुण-रसत्व को प्राप्त होता है ।

पाय पाय तवारीणां शोणितं पाणिसम्पुटैः ।
कौणपा सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणा. ॥२८८॥

अर्थ—अतडियो के आभूषणो से विभूषित राक्षस हस्ताजलियो के द्वारा तेरे शत्रुओं के रुधिर को पी-पी कर शिरच्छिन्न धडो के साथ नृत्य कर रहे हैं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण बीभत्स का है, जिसमें जुगुप्सा स्थायीभाव है, राक्षस आलम्बन विभाव है, मोह अपस्मार आदि व्यभिचारी हैं जिनसे परिपुष्ट होता हुआ जुगुप्सा नामक स्थायीभाव बीभत्स रसत्व को प्राप्त हुआ है । अत. यहाँ रसवत् अलकार है ।

इदमम्लानमानाया लग्न स्तनतटे तव ।
छाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपद सखि ! ॥२८९॥

अर्थ—हे सखी, यद्यपि तेरा मान कम नही हुआ पर स्तन के ऊपर लगे हुए इस नवीन नखक्षत को अपने आँचल से छिपा लो ।

टिप्पणी—यह हास्य का उदाहरण है जिसका स्थायीभाव हास है । यहाँ पर मानिनी नायिका आलम्बन विभाव, नखक्षत उद्दीपन विभाव,

अवहित्था आदि व्यभिचारियो से परिपुष्ट हास स्थायी भाव हास्यरसत्व को प्राप्त हुआ है।

अंशुकानि प्रवालानि पुष्प हाराविभूषणम् ।
शाखाश्च मन्दिराण्येषा चित्र नन्दनशाखिनाम् ॥२९०॥

अर्थ—आश्चर्य है कि इन कल्पवृक्षो के कोमल पत्ते, वस्त्र, फूल, हार आदि आभूषण तथा शाखाएँ घर हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर अद्भुत-रस का स्थायी भाव विस्मय है। विस्मय का लक्षण इस प्रकार है

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्त्तिषु ।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृत ॥

अर्थात् लोक-सीमा को लाँघने वाले विविध पदार्थों में जो चित्त का विस्फार होता है उसे विस्मय कहा जाता है। यहाँ अलौकिक कल्पवृक्ष आलम्बन विभाव, उनके वस्त्र आदि रूपी गुणो की महिमा उद्दीपन विभाव, स्तम्भ स्वेद आदि अनुभाव और वितर्क आदि व्यभिचारी हैं। इनके द्वारा परिपुष्ट विस्मय नामक स्थायीभाव अद्भुतरसत्व को प्राप्त होता है।

इद मघोन. कुलिश धारासन्निहितानलम् ।
स्मरण यस्य दैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते ॥२९१॥

अर्थ—इन्द्र का धार में निहित अग्निवाला यह वज्र है जिसके स्मरण से दैत्यो की स्त्रियो का गर्भपात हो जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में भयानक-रस है जिसका स्थायीभाव भय है। यहाँ इन्द्र आलम्बन विभाव, वज्र उद्दीपन विभाव, गर्भपात आदि अनुभाव और आवेग समोह आदि व्यभिचारी हैं। इनके द्वारा परिपुष्ट भय स्थायीभाव भयानक-रसत्व को प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में आठ रस माने गये हैं। अत यहाँ पर उन आठ रसो का वर्णन किया गया है। शात नामक नवम रस श्रव्य काव्य में दृष्टिगत होता है। कुछ विद्वानों ने शान्त-रस को भी, जिसका स्थायीभाव निर्वेद है, रस माना है। आगे चलकर कुछ विद्वानो ने भक्ति को भी रस-रूप में स्वीकार किया है।

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रस. ।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥२९२॥

अर्थ—माधुर्य गुण में वाक्य का ग्राम्यता-दोष-रहित होना रस का कारण दिखाया गया है। यहाँ रसवत् अलकार में तो वाणियो का आठ रसो से युक्त होना ही रसवत्ता माना गया है।

टिप्पणी—प्रथम परिच्छेद में गुणो के कथन के प्रसग में माधुर्य गुण का होना ही रसवत्ता कहा गया है। यहाँ अलकारो का होना भी रसवत्ता कहा गया है। तो अब दोनो में क्या भेद है, इसका यहाँ निरूपण किया गया है।

(उर्जस्वी)

अपकर्ताहमस्मीति हृदि ते मा स्म भूद् भयम्।
विमुखेषु न मे खड्ग. प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥ २९३॥

अर्थ—'मैं तेरा शत्रु हूँ'—यह सोचकर तेरे हृदय में मेरे कारण डर नही होना चाहिए, क्योकि मुझसे विमुख हो जाने वालो पर मेरी तलवार कभी प्रहार नही करती।

टिप्पणी—यह उर्जस्वी अलकार का उदाहरण है। यहाँ पर गर्वरूप व्यभिचारी भाव उत्साह स्थायीभाव को प्रच्छन्न करके विभावादि से परि-पुष्ट होने के कारण प्रकाशित होता है। इसलिए यह ऊर्जस्वी नामक अलकार है। परन्तु जहाँ यह गर्वरूप व्यभिचारी भाव उत्साह स्थायीभाव में विलीन हो जाता है वहाँ वीररस होता है।

इति मुक्त. परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना।
पुसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ॥२९४॥

अर्थ—किसी अहकारी पुरुष ने युद्ध में पराजित शत्रु को इस प्रकार कहकर छोड दिया। इस प्रकार के कथनो को ऊर्जस्वी जानना चाहिए।

[पर्यायोक्ति]

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥२९५॥

अर्थ—अभिलषित अर्थ का वाचक शब्द के द्वारा कथन न करके उसी अभीप्सित अर्थ की सिद्धि के लिए जो प्रकारान्तर अथवा भगिमा-विशेष से कथन किया जाता है वह पर्यायोक्ति अलकार कहलाता है ।

टिप्पणी—सक्षेप में हम कह सकते है कि व्यजना के द्वारा वाच्यार्थ के प्रतिपादन को पर्यायोक्ति अलकार कहते हैं ।

दशत्यसौ परभृत सहकारस्य मञ्जरीम् ।
तमह वारयिष्यामि युवाभ्या स्वैरमास्यताम् ॥२९६॥

अर्थ—यह कोयल आम्रमजरी को (अपनी चोच से) काट रही है, मैं उसका निवारण करती हूँ । तुम दोनो स्वच्छन्द होकर बैठो ।

टिप्पणी—यह पर्यायोक्त का उदाहरण है । नायिका की सखी यह विचार कर कि मेरे यहाँ रहने से नायक-नायिका के प्रेमालाप में व्याघात होगा, वाचक पद से कथन न कर भगिमा-विशेष से कथन करके वहाँ से चली जाती है ।

सङ्गमय्य सखीं यूना सकेते तद्रतोत्सवम् ।
निर्वर्त्तयितुमिच्छन्त्या कयाप्यपसृत तत. ॥२९७॥

अर्थ—सकेत स्थान पर अपनी सखी को भोग-विलास करने के लिए प्रिय युवक से मिलाकर कोई भी (चतुर स्त्री) उस स्थान से चली गई ।

[समाहित]

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहु समाहितम् ॥२९८॥

अर्थ—किसी कार्य को आरम्भ करने के लिए उद्यत होते ही दैवयोग से उस कार्य के साधन की प्राप्ति होजाने को ही समाहित अलकार कहते हैं ।

मानमस्या निराकर्तु पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ॥२९९॥

अर्थ—मानिनी के मान के निराकरण के लिए जैसे ही मैं उसके चरणो पर झुकने को था कि भाग्यवश मेरे उपकार के लिए बादल का

गरजना शुरू हो गया।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वादल के गरजने से, जोकि अत्यन्त उद्दीपक होता है, मानिनी के मान का निराकरण दिखाया गया है। प्रणाम करने से पूर्व ही मान के दूर हो जाने से यहाँ पर समाहित अलकार है।

[उदात्त]

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलङ्कार मनीषिण. ॥३००॥

अर्थ—(वर्णनीय के) अभिप्राय अथवा ऐश्वर्य का जो अलौकिक महत्त्वपूर्ण वर्णन किया जाता है उसको विद्वान् लोग उदात्त नामक अलकार कहते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत के उदार आशय के वर्णन के द्वारा तथा लोकातिशय सम्पत्ति के वर्णन के द्वारा जो वैचित्र्य परिलक्षित होता है वह उदात्त अलकार कहलाता है। कुछ विद्वानो के मत में प्रस्तुत के अगभूत वडे पुरुषो के चरित्र का वर्णन भी उदात्त अलकार के अन्दर आता है।

गुरो. शासनमत्येतु न शशाक स राघव. ।
यो रावणशिरश्छेदकार्यभारेऽप्यविक्लवः ॥३०१॥

अर्थ—जो राघव (रामचन्द्र) रावण के शिरश्छेदन के कार्य-भार से भी विकल नही हुए वही (राम) पिता के (राज्य त्याग कर वन-गमन के) आदेश का अतिक्रमण करने में समर्थ न हुआ।

टिप्पणी—यहाँ पर लोक-सीमा को पार करने वाले उदार आशयरूप अलौकिक महात्म्य की प्रतीति होती है। अतः यहाँ पर उदात्त अलकार स्पष्ट ही है।

रत्नभित्तिषु संक्रान्तै प्रतिविम्वशतैर्वृ त ।
ज्ञातो लङ्केश्वर कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ॥३०२॥

अर्थ—अजना के पुत्र हनुमान के द्वारा रत्नो की दीवारो में प्रतिफलित सैंकडो प्रतिविम्वो से घिरा हुआ रावण वडी कठिनता से यथार्थ में पहिचाना गया।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रतिबिम्बग्राही रत्नजटित दीवारो के वर्णन से रावरण के अलौकिक ऐश्वर्य रूपी महत्ता की प्रतीति होने के कारण उदात्त अलकार है।

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम् ।
सुव्यञ्जितमिति प्रोक्तमुदात्तद्वयमप्यद ॥३०३॥

अर्थ—पहले के ('गुरो शासनम्' इत्यादि उदाहरण में राम की मनोवृत्ति के अलौकिक महात्म्य का और यहाँ पर रत्नभित्तिषु इत्यादि) इस उदाहरण में अलौकिक ऐश्वर्य का स्पष्टीकरण किया गया है। इस प्रकार ये दो प्रकार के उदात्त अलकार कहे गये है।

[अपह्नुति]

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।
न पञ्चेषु: स्मरस्तस्य सहस्र पत्रिणामिति ॥३०४॥

अर्थ—किसी प्रसिद्ध वस्तु को छिपाकर उसके स्थान पर अन्य अर्थ के प्रदर्शन को अपह्नुति कहते हैं अर्थात् लोक-प्रसिद्ध सत्य को छिपाकर असत्य के कथन करने को अपह्नुति कहते हैं जैसे कामदेव पचबाण वाला नही अपितु हजार बाणो वाला है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में कामदेव को पचबाण-रूप धर्म का प्रतिषेध करके हजार बाण रूपधर्म का आरोप होने से यह अपह्नुति है।

चन्दन चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिण.।
सेयमग्निमयी सृष्टिर्मयि शीता परान् प्रति ॥३०५॥

अर्थ—चन्दन, चन्द्रप्रभा तथा दक्षिण का मन्द मलयानिल यह सब मेरे लिए अग्नि रूपी हैं अर्थात् अग्नि के समान सन्तापदायक है, पर दूसरो के लिए शीतल तथा सुखदायी हैं।

शैशिर्यमभ्युपेत्यैव परेष्वात्मनि कामिना ।
औष्ण्यप्रकाशनात् तस्य सेय विषयनिह्नुति ॥३०६॥

अर्थ—कामी-जन के द्वारा दूसरों में शीतलता स्वीकृत की जाकर ही अपने-आप में उष्णता के प्रकाशन के कारण यहाँ पर यह विषयापह्नुति है।

अमृतस्यन्विकिरणश्चन्द्रमा नामतो मत. ।
अन्य एवायमर्यात्मा विषनिष्यन्दिदीधिति· ॥३०७॥

अर्थ—चन्द्रमा की किरणें पीयूषवर्षी होती हैं, यह नाम-मात्र का कथन है। इसका स्वरूप तो कुछ अन्य ही है। इसकी किरणें तो विष वरसानेवाली हैं।

इति चन्द्रत्वमेवेन्दौ निवर्त्यार्यान्तरात्मता ।
उक्ता स्मरार्त्तेनेत्येषा स्वरूपापह्नुतिर्मता ॥३०८॥

अर्थ—कामपीडित पुरुष द्वारा चन्द्रमा में चन्द्रत्व अर्थात् उसके आह्लादक रूप का निषेध किया जाकर विष वरसाने वाले स्वरूप का आरोप किया गया है। इस प्रकार से यह स्वरूपापह्नुति कही गयी है।

टिप्पणी—इसमें वस्तु के असली स्वरूप का गोपन करके किसी अन्य स्वरूप का आरोप किया जाता है। यहाँ पर आनन्ददायक धर्म का निषेध करके दु:खदायक धर्म का आरोप किया गया है।

उपमापह्नुति पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता ।
इत्यपह्नुतिभेदाना लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तर. ॥३०९॥

अर्थ—उपमा अपह्नुति पहले ही उपमा अलकार के भेदों में दिखाई जा चुकी है, अत अपह्नुति-भेदों का विस्तार उदाहरणों में खोजना चाहिए।

[श्लेष]

श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वित वच ।
तदभिन्नपद भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ॥३१०॥

अर्थ—एक-साथ अनेक अर्थों का प्रतिपादन करता हुआ एक रूप में स्थित वाक्य श्लेष अलकार कहा गया है। यह समान पद तथा असमान पद वाहुल्य से युक्त अर्थात् सभग तथा अभग के भेद से दो प्रकार का होता है।

टिप्पणी—श्लेष के विषय में विश्वनाथ की परिभाषा अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में निम्न प्रकार से है :

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गाना प्रकृत्यो. पदयोरपि ।
श्लेषाद् विभक्तिवचन भाषाणामष्टधा ततः ॥

अर्थात् श्लिष्ट पदो के द्वारा अनेक अर्थों के कथन को श्लेष कहते हैं। वर्ण, प्रत्यय आदि के भेद से वह आठ प्रकार का है।

असावुदयमारूढ· कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।
राजा हरति लोकस्य हृदय मृदुभि. करैः ॥३११॥

अर्थ—यह राजा (चन्द्र) उन्नति के (उदयाचल के) शिखर पर पहुँचकर, तेज से युक्त (प्रभा से युक्त) राज्य-मण्डल में अनुरक्त (लाल बिम्ब से युक्त) हल्के करो द्वारा (कोमल किरणो के द्वारा) लोगो के चित्त को आकर्षित करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में उदय आदि पदो के प्रकृति प्रत्यय आदि के अभिन्न होने से यह अभग श्लेष है।

दोषाकरेण सम्बध्नन्नक्षत्रपथवर्तिना ।
राज्ञा प्रदोषो मामित्थमप्रिय किं न बाधते ॥३१२॥

अर्थ—रात्रि का आगमन (प्रभूत दोषयुक्त पुरुष) निशाकर (दोषो की खान) नक्षत्रो के पथ में वर्तमान (क्षत्रियोचित शौर्य, आचार आदि के पथ से रहित) चन्द्रमा से (राजा से) सम्बन्ध रखता हुआ मुझ प्रिया-विहीन को (द्वेष रखने वाले को) क्यो न सतायेगा अर्थात् कष्ट देगा।

टिप्पणी—यहाँ पर दोषकर आदि पदो के प्रकृति प्रत्यय भेद से भिन्न अर्थ के प्रतिपादक होने से यह सभग श्लेष है। 'राज्ञा' इस पद में तो अभग श्लेष है। पर सभग श्लेष के बाहुल्य के कारण यह सभग श्लेष है। पर कुछ के मत में सभगाभग श्लेष है। वैसे श्लेष तीन प्रकार का है—सभग, अभग और सभगाभग।

उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचरा ।
प्रागेव दर्शिता. श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे ॥३१३॥

अर्थ—पूर्व ही उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि अलकारो में दृष्टिगोचर होने वाले श्लेष प्रदर्शित कर दिये गये हैं। यहाँ पर कुछ अन्य श्लेष सम्बन्धी अलकार प्रदर्शित किये जायेंगे।

अस्त्यभिन्नक्रिय कश्चिदविरुद्धक्रियोऽपर. ।
विरुद्धकर्मा चास्त्यन्य श्लेषो नियमवानपि ॥३१४॥

अर्थ—कोई श्लेष समान-क्रियायुक्त तथा दूसरा अविरोधी क्रिया से युक्त होता है। कुछ विरोधी-क्रियायुक्त तथा दूसरे नियमयुक्त भी श्लेष होते हैं।

नियमाक्षेपरूपोक्तिरविरोधी विरोध्यपि ।
तेषा निदर्शनेष्वेव रूपमाविर्भविष्यति ॥३१५॥

अर्थ—नियमाक्षेप-रूपोक्ति अर्थात् नियम के आक्षेप से युक्त उक्ति के अविरोधी और विरोधी भी दो भेद हैं। उनका आगे निरूपित किये जानेवाले उदाहरणों में स्वरूप प्रकट हो जायगा।

वक्रा स्वभावमधुरा. शसन्त्यो रागमुल्वणम् ।
दृशो दूत्यश्च कर्षन्ति कान्ताभि. प्रेषिता प्रियान् ॥३१६॥

अर्थ—रमणियों से डाली गई (भेजी गई) तिरछी (वक्रोक्ति अर्थात् टेढी बात कहने में निपुण), स्वभाव से ही मनोहर (मधुर स्वभाव वाली) बहुत ज्यादा लाल रग की होती हुई (अत्यन्त अनुराग को सूचित करती हुई) आँखें और दूतियाँ प्रियजनों को आकर्षित करती हैं (बुलाती हैं।)

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'वक्र' आदि श्लिष्ट विशेषणों का आँखों और दूतियों की आकर्षण-रूप एक ही क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण यहाँ अभिन्न-क्रियायुक्त (समान क्रियायुक्त) श्लेष अलकार है। कुछ विद्वान् इसको तुल्ययोगिता का अग और कुछ क्रियादीपक का अग मानते हैं।

मधुरा रागवर्धिन्य. कोमला. कोकिलागिर ।
आकर्ण्यन्ते मदकला श्लिष्यन्ते चासितेक्षणाः ॥३१७॥

अर्थ—मधुर स्वर वाली (रमणीय स्त्री) कानों को मधुर लगने वाली (कोमल शरीर वाली) मनोन्मत्त (सौभाग्य के कारण उद्भूत गर्व से युक्त) राग की उत्पादक (अनुराग को बढाने वाली) कोयल की बोली सुनी जाती है और काले नेत्रों वाली आलिंगन की जाती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में सुनने तथा आलिंगन करने की दोनों

क्रियाओ के एक समय में ही सम्भव होने से यह अविरुद्ध (अप्रतिकूल) क्रियायुक्त अग श्लेष है। कोयल की बोली सुनी जाती है और काले नेत्रो वाली आलिगन की जाती है। इन दोनो वाक्यो को श्लिष्ट विशेषणो द्वारा वर्णित किया गया है।

रागमादर्शयन्नेष वारुणीयोगवर्धितम् ।
तिरोभवति घर्मांशुरङ्गजस्तु विजृम्भते ॥३१८॥

अर्थ—वारुणी (पश्चिमी दिशा, मदिरा) के योग से बढे हुए और राग (लालिमा, अनुराग) को प्रदर्शित करते हुए यह सूर्य अस्त हो रहा है और कामदेव विकसित हो रहा है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'सूर्य अस्ताचल को जा रहा है' और 'कामदेव विकसित हो रहा है'—इन दो वाक्यो को श्लिष्ट विशेषणो द्वारा वर्णित किया गया है। विकसित होने तथा अस्त होने रूप दो परस्पर विरुद्ध क्रियाओ का एक-साथ कथन होने से यह विरुद्ध-क्रियाश्लेष है।

निस्त्रिंशत्वमसावेव धनुष्येवास्य वक्रता ।
शरेष्वेव नरेन्द्रस्य मार्गणत्वं च वर्तते ॥३१९॥

अर्थ—इस राजा की तलवार में ही निस्त्रिंशता (तीस अगुल से अधिक परिमाण, निर्दयता) धनुष में ही वक्रता (कुटिलता, टेढापन) और तीरो में ही मार्गणत्व (अन्वेषणत्व, याचकता) है।

टिप्पणी—यहाँ पर नियम-युक्ति-श्लेप है क्योकि प्रत्येक वाक्य एव शब्द के कारण दूसरे शब्द अर्थ से जुडा हुआ है। कुछ विद्वानो के मत में यह परिसख्या अलकार का पोषक है अत उसका यह अग है।

पद्मानामेव दण्डेषु कण्टकस्त्वयि रक्षति ।
अथवा दृश्यते रागिमिथुनालिङ्गनेष्वपि ॥३२०॥

अर्थ—आपके रक्षक होने पर केवल कमलो के नालो पर ही अथवा अनुरक्त प्रेमियो के आलिगनो में (रोमाचित होने पर) भी कटक (क्षुद्र शत्रु काटे, रोमाच-जन्य खडे हुए वाल) देखे जाते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'कमलो में ही' इस नियमवान् श्लेष

के 'अथवा' इत्यादि के द्वारा आक्षेप किये जाने पर नियमाक्षेप युक्त उक्ति श्लेष है। 'कटक' इस पद के दोनो वाक्यो में दीपित होने के कारण इसको दीपक का अग जानना चाहिए।

महीभृद् भूरिकटकस्तेजस्वी नियतोदय ।
दक्ष प्रजापतिश्चासीत् स्वामी शक्तिधरश्च स. ॥३२१॥

अर्थ—वह महीभृत (राजा, पर्वत), भूरिकटक (विशाल-सेना-युक्त विस्तृत तराईवाला), (तेजस्वी प्रतापवान् सूर्य का), नियतोदय (सतत उन्नतिशील, निश्चित रूप से उदय कराने वाला), दक्ष (निपुण प्रजापति या ऋषिविशेष), प्रजापति (प्रजापतिपालक, सृष्टिकर्ता), स्वामी (प्रभु, कार्तिकेय) और शक्तिधर (शक्ति से सम्पन्न, शक्ति के विशेष शस्त्र धारण किये हुए) हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर महीभृत आदि श्लिष्ट पदो के परस्पर सम्बन्धित तथा अविरोधी होने से यह अविरोधी श्लेष है।

अच्युतोऽप्यवृषच्छेदी राजाप्यविदितक्षयः ।
देवोऽप्यविबुधो जज्ञे शङ्करोऽप्यभुजङ्गवान् ॥३२२॥

अर्थ—अच्युत (सन्मार्ग से पतित न होता हुआ, विष्णु) भी वृष (धर्म, वृष नाम वाले राक्षस) को नष्ट करने वाला न था। राजा (नृपति, चन्द्र) होता हुआ भी क्षय (राजयक्ष्मा, क्षीणता) को प्राप्त न हुआ था, देव (राजा, देवता) होता हुआ भी विबुध (विद्वानो, देवताओ) से रहित नही हुआ और शकर (कल्याणकारी, महादेव) होता हुआ भी भुजगवान् (दुर्जनो, सापो) से रहित न हुआ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'अच्युत आदि' पदों के 'विष्णु आदि' दूसरे अर्थ में 'वृष के नष्ट करने' आदि दूसरे पद के अर्थ के अन्वय से विरुद्ध होने के कारण यह विरोधयुक्त श्लेष है। यह विरोधाभास का अग है।

[विशेषोक्ति]

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥३२३॥

अर्थ—प्रस्तुत के अतिशय बल आदि के प्रतिपादन के लिए गुण,जाति आदि के वैकल्य अर्थात् कार्य की सिद्धि में निष्फलता का जो प्रतिपादन किया जाता है वही विशेषोक्ति कहलाती है ।

टिप्पणी—'अतिशयोक्ति में प्रस्तुत के विशेष दर्शन होने पर भी गुण आदि के वैकल्य का प्रतिपादन नही होता', यह विशेषोक्ति तथा अतिशयोक्ति में भेद है । विश्वनाथ ने विशेषोक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है 'सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधेति ।' अर्थात् हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलकार होता है जो दो प्रकार का है ।

न कठोर न वा तीक्ष्णमायुध पुष्पधन्वन. ।
तथापि जितमेवासीदमुना भुवनत्रयम् ॥३२४॥

अर्थ—पुष्पधन्वा (काम) के अस्त्र न कठोर हैं और न ही तीक्ष्ण हैं तो भी इसने तीनो लोको को जीत ही लिया ।

टिप्पणी—यहाँ पर कामदेव के बलोत्कर्ष के विशेष प्रदर्शन के लिए अस्त्रो की कठोरता, तीक्ष्णता रूप गुणो के वैकल्य दिखाने के कारण यह विशेषोक्ति है ।

न देवकन्यका नापि गन्धर्वकुलसम्भवा ।
तथाप्येषा तपोभङ्ग विधातु वेधसोऽप्यलम् ॥३२५॥

अर्थ—यह न देवकन्या है और न ही गन्धर्वकुल में उत्पन्न हुई है तो भी ब्रह्मा के तप को भग करने में समर्थ है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में देवत्व, गन्धर्वत्व रूप जाति की निरपेक्षता के कारण नायिका के अतिशय रूप विशेष का प्रतिपादन करते हुए जाति के वैकल्य प्रदर्शन के कारण यहाँ विशेषोक्ति अलकार है ।

न बद्धा भ्रुकुटिर्नापि स्फुरितो दशनच्छद ।
न च रक्ताऽभवद्दृष्टिर्जित च द्विषता कुलम् ॥३२६॥

अर्थ—भ्रूभग न हुआ, अधर भी स्फुरित नही हुए (नही काँपे) और आँखें भी लाल न हुई पर शत्रुकुल जीत लिया गया ।

टिप्पणी—यहाँ पर 'भ्रूभग' आदि क्रियाओ के वैकल्यद्वारा शत्रु-विजय का वर्णन किया गया है। अत यह क्रिया-वैकल्य-विशेपोक्ति है।

न रथा न च मातङ्गा न हया न च पत्तय.।
स्त्रीणामपाङ्गदृष्टचैव जीयते जगतां त्रयम् ॥३२७॥

अर्थ—न रथ है और न ही हाथी है न घोडे हैं और न ही पदाति—पैदल सेना है। स्त्रियो की केवल तिरछी नजर से ही तीनो लोक जीते जाते हैं।

टिप्पणी—इस उदाहरण में रथ आदि द्रव्यों की असफलता (वैकल्य) के प्रतिपादन के कारण यह द्रव्य-वैकल्य विशेपोक्ति है।

एकचक्रो रथो यन्ता विकलो विषमा हया.।
आक्रामत्येव तेजस्वी तथाप्यर्को नभस्तलम् ॥३२८॥

अर्थ—रथ एक पहिये वाला है, सारथी (अरुण) विकलाग (चरण-रहित) है और घोडे विपम (सख्या में सात) हैं तो भी तेजस्वी सूर्य विस्तीर्ण आकाश को पार करता ही है।

टिप्पणी—इस उदाहरण में रथ आदि द्रव्यो की असफलता के प्रति-पादन करने के कारण यह द्रव्य-वैकल्य विशेपोक्ति है। तेजस्वी-रूप कारण के कथन से कुछ अधिक वैचित्र्य धारण करने के कारण यह हेतु अलकार से अनुप्राणित है।

सैषा हेतुविशेपोक्तिस्तेजस्वीति विशेपणात्।
अयमेव क्रमोऽन्येषां भेदानामपि कल्पते ॥३२९॥

अर्थ—'तेजस्वी' इस विशेप कथन के कारण यह विशेपोक्ति हेतु-विशे-पोक्ति है। इसके अन्य भेदों को जानने में भी यही क्रम है अथवा मार्ग है अर्थात् इसी रीति के द्वारा इसके अन्य भेदो को भी जानना चाहिए।

टिप्पणी—जिस प्रकार विशेपोक्ति यहाँ पर हेतु अलकार से सम्ब-न्धित है उसी प्रकार अन्य अलकारो को भी, जो इससे सम्बद्ध हैं, जानना चाहिए।

[तुल्ययोगिता]

विविक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित् ।
कीर्तन स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ॥३३०॥

अर्थ—प्रस्तुत में विद्यमान गुणो की अप्रस्तुत में स्थित उत्कृष्ट गुणो से समता करके स्तुति या निन्दा के लिए जो कथन किया जाय, वह तुल्ययोगिता कहलाती है ।

यम कुबेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि ।
बिभ्रत्यनन्यविषया लोकपाल इति श्रुतिम् ॥३३१॥

अर्थ—यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र और आप भी दूसरो में न विद्यमान लोकपाल नाम की ख्याति को धारण करते हैं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'लोकपाल' गुण का राजा होना वर्णित किया गया है और उस गुण के द्वारा वडे यम आदि से समता के होने का कथन किया गया है। इसलिए यहाँ पर स्तुतियुक्त तुल्ययोगिता अलकार है ।

सङ्गतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितानि च ।
क्षणद्वय न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम् ॥३३२॥

अर्थ—मृगाक्षियों (सुन्दरियो) की मित्रता तथा विद्युत् की चमक उनके द्वारा स्वय ही घन (वहुत घनी अर्थात् गाढी—मृगाक्षियो के पक्ष में) (बादलो से—विद्युत् पक्ष में) आरम्भ की जाती हुई दो क्षण नही ठहरती है अर्थात् क्षणिक होती है ।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रसिद्ध चचल स्वभाव वाली विजली के साथ स्त्रियो की मित्रता के चचलपन की तुलना करके निन्दा की प्रतीति कराई गई है । इसलिए यहाँ पर निन्दायुक्त तुल्ययोगिता है ।

[विरोध]

विरुद्धाना पदार्थाना यत्र ससर्गदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव स विरोध स्मृतो यथा ॥३३३॥

अर्थ—प्रस्तुत के उत्कर्ष के प्रतिपादन के लिए ही परस्पर-विरोधी

पदार्थों का जहाँ सम्वन्ध प्रतिपादन किया जाता है वह विरोध अलकार माना गया है।

टिप्पणी—यह विरोध जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य के भेद से क्रम से चार, तीन, दो एक अर्थात् दस प्रकार का होता है।

कूजित राजहसाना वर्धते मदमञ्जुलम् ।
क्षीयते च मयूराणा रुतमुत्क्रान्तसौष्ठवम् ॥३३४॥

अर्थ—राजहसो का मादकता के कारण मधुर कूजन बढ रहा है और मोरो की कैकाध्वनि सौष्ठवरहित होने के कारण क्षीण हो रही है।

टिप्पणी—यहाँ 'कूजित' और 'रुत' समान शब्दो के होने पर भी कर्ता के योग में 'वृद्धि' और 'क्षय' विरोधी कियाएँ आती हैं। परन्तु इन दोनो का सम्वन्ध शारदागम से है इसलिए यहाँ पर विरोध अलकार है।

प्रावृषेण्यैर्जलधरैरम्बर दुर्दिनायते ।
रागेण पुनराक्रान्त जायते जगतां मनः ॥३३५॥

अर्थ—वर्षाकालीन मेघो से आकाश श्यामल हो रहा है। मनुष्यो का मन फिर भी राग (अनुराग, लोहित-लाल) से व्याप्त हो रहा है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में श्यामल तथा लोहित गुणो का एक मेघ से ससर्ग होने के कारण विरोध है। उसका अनुराग-रूप अन्य अर्थ लेने से परिहार होता है। इसके द्वारा वर्षा-समय की विशेषता प्रकट होती है अत यह वस्तुगत-गुण-विरोध है।

तनुमध्यं पृथुश्रोणि रक्तौष्ठमसितेक्षणम् ।
नतनाभि वपु स्त्रीणा क न हन्त्युन्नतस्तनम् ॥३३६॥

अर्थ—स्त्रियो का मध्य भाग कृश, विशाल नितम्ब, लाल ओष्ठ, काले नेत्र, अवनत या गहरी नाभि, ऊँचे स्तनो से युक्त (उत्तुग कुचों से युक्त) शरीर किस पुरुष को पीडित नही करता, अर्थात् सबको सन्तापित करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में शरीर के विभिन्न गुणो (कृशता, विशालता, अवनति, उन्नति) का विरोध है परन्तु आश्रयीभूत अगो के भेद से इन विरोध का परिहार हो जाता है। इससे वर्णन की जाती हुई

नायिका की विशेषता प्रकट होती है अत यहाँ पर अवयव-गत गुणो का विरोध है।

मृणालबाहु रम्भोरु पद्मोत्पलमुखेक्षणम् ।
अपि ते रूपमस्माक तन्वि ! तापाय कल्पते ॥३३७॥

अर्थ—हे तन्वङ्गी ! तेरा रूप-सौन्दर्य, कमल नाल के सदृश भुजाओ (बाहुओ), केले के समान जघाओ, श्वेतकमल जैसे मुख तथा नीलकमल से नेत्रो से युक्त होता हुआ भी हमारे सन्ताप की वृद्धि के लिए ही होता है।

टिप्पणी—यहाँ पर शीतलताजनक गुणों का सन्तापजनक क्रिया से विरोध प्रदर्शित किया गया है अर्थात् शीतल कारण से शीतल कार्य की न कि सन्ताप की उत्पत्ति होनी चाहिए। वक्ता के विरह-रहित होने से इसका परिहार हो जाता है अत यहाँ विषम-विरोध अलकार है।

उद्यानमारुतोद्धूताश्चूतचम्पकरेणव ।
उदश्रयन्ति पान्थानामस्पृशन्तोऽपि लोचने ॥३३८॥

अर्थ—उपवन की वायु से उडी हुई आम्र-मजरी और चपा के पुष्पो का पराग पथिको के नेत्रो का स्पर्श न करते हुए भी अश्रुपूर्ण कर देते है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में स्पर्श के अभाव में भी साश्रुपूर्ण होने की क्रिया का विरोध है जिसका परिहार पराग के उद्दीपन रूप में होने से हो जाता है। इस प्रकार यह असगति विरोध का उदाहरण है।

कृष्णार्जुनानुरक्तापि दृष्टि कर्णावलम्बिनी ।
याति विश्वसनीयत्व कस्य ते कलभाषिणि ! ॥३३९॥

अर्थ—हे मधुरभाषिणी ! तुम्हारे नेत्र कृष्ण और अर्जुन में (काले और श्वेत) अनुरक्त होते हुए भी (प्रान्त भाग में लाल) कर्ण पर (कान तक प्रसारित) आश्रित हैं, (अत) किसके विश्वासपात्र होगे ! अर्थात् कोई भी विश्वास नही करेगा।

टिप्पणी—यहाँ पर कृष्ण तथा अर्जुन से अनुरक्ति तथा कर्ण का आलम्बन इन दो का विरोधाभास सा होता है जिसका श्लेष के द्वारा शमन हो जाता है। यह श्लेपमूलक विरोध है।

इत्यनेकप्रकारोऽयमलङ्कार प्रतीयते ॥३४०॥१॥

अर्थ—इस प्रकार इस विरोध अलकार के अनेक भेद दृष्टिगत होते हैं।

[अप्रस्तुतप्रशंसा]

अप्रस्तुतप्रशसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुति ॥३४०॥२॥

अर्थ—(प्रस्तुत की निन्दा के लिए) जो अप्रस्तुतो की स्तुति प्रस्तुत की जाती है वह अप्रस्तुतप्रशसा होती है।

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ।
अन्नैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुरादिभि ॥३४१॥

अर्थ—पर-सेवा से रहित हरिण सुलभ तृण, दर्भांकुर आदि अन्नो के द्वारा वन में सुख से जीवन व्यतीत करते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में राजसेवाओ से प्राप्त कष्ट के कारण किसी मनस्वी के द्वारा अप्रस्तुत मृगवृत्ति की प्रशसा की गई है। अतः यह अप्रस्तुतप्रशसा है जिसमें अप्रस्तुत मृग की स्तुति के द्वारा अपनी निंदा सूचित की गई है।

सेयमप्रस्तुतैवाऽत्र मृगवृत्ति. प्रशस्यते ।
राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना ॥३४२॥

अर्थ—इस उदाहरण में राजा की सेवा से प्राप्त क्लेश की अनुभूति के कारण किसी मनस्वी के द्वारा यह अप्रस्तुत ही मृगवृत्ति प्रशसित की गई है।

टिप्पणी—'एव' शब्द के प्रयोग के द्वारा अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत दोनो की प्रशसा किये जाने पर यह अलकार नही होगा।

[व्याजस्तुति]

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता ।
दोषाभासा गुणा एव लभन्ते ह्यत्र सन्निधिम् ॥३४३॥

अर्थ—यदि निन्दा किये जाते हुए के समान स्तुति करता है तो यह व्याजस्तुति कही गई है। यहाँ पर दोष के समान आभासित होने वाले

गुण ही स्पष्टता को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—जहाँ पर निन्दा के व्याज से स्तुति और स्तुति के व्याज से निन्दा की जाती है वहाँ व्याजस्तुति अलकार होता है।

तापसेनापि रामेण जितेय भूतधारिणी ।
त्वया राज्ञापि सैवेय जिता मा भून्मदस्तव ॥३४४॥

अर्थ—परशुराम ने तपस्वी होते हुए भी यह पृथ्वी जीत ली, वह यही तुझ राजा से भी जीती गई। अत तुझको गर्व नही करना चाहिए।

टिप्पणी—यहाँ पर साधनविहीन परशुराम द्वारा विजित भूमि के साधन-सम्पन्न राजा के द्वारा विजित होने से प्रस्तुत की हुई स्तुति नही प्रतीत होती वरन् ऊपर से निन्दा ही प्रतीत होती है। इस निन्दा के द्वारा (जो पृथ्वी महाबली परशुराम ने जीती थी वही तुमने जीती) अत्यधिक स्तुति ध्वनित होती है। अत यहाँ व्याजस्तुति अलकार है।

पुस पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते ।
राजन्निक्ष्वाकुवशस्य किमिव तव युज्यते ॥३४५॥

अर्थ—हे राजन् ! आपके द्वारा पुराणपुरुष (वृद्ध पुरुष) की लक्ष्मी (सम्पत्ति) का अपहरण किया जाकर उपभोग में लाई जा रही है। इक्ष्वाकुवशी आपके लिए क्या यह युक्तियुक्त है ? अर्थात् क्या यह आपके योग्य है ?

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में आदिपुरुष द्वारा सम्भोग की हुई लक्ष्मी का तेरे द्वारा उपभोग किया जाना ठीक नहीं। इस निन्दा के द्वारा 'अत्यधिक सम्पत्ति का होना' यह स्तुति ध्वनित होती है। अतः यह अर्थ-श्लेषमूलक व्याजस्तुति है।

भुजङ्गभोगससक्ता कलत्र तव मेदिनी ।
अहङ्कार परा कोटिमारोहति कुतस्तव ॥३४६॥

अर्थ—तेरी स्त्री पृथ्वी (जारो के उपभोग में सांपो के फणो पर) (अनुरक्त, आवृत्त) है तब तेरा अहकार अत्यधिक उच्चकोटि पर क्यो पहुँचा हुआ है ?

टिप्पणी—यहाँ पर निन्दा द्वारा चक्रवर्ती राजा होने की प्रतीति होती है अत यह व्याजस्तुति है । भुजग आदि शब्दो के अनेकार्थक होने से यह शब्दश्लेषमूलक व्याजस्तुति है ।

इति श्लेषानुविद्धानामन्येषा चोपलक्ष्यताम् ।
व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तस्तु विस्तर ॥३४७॥

अर्थ—इस प्रकार श्लेष तथा अन्य अलकारो से सम्बन्धित व्याजस्तुति के भेदोपभेदो का विस्तार सीमारहित जानना चाहिए अथवा अन्य भेदो को अपनी बुद्धि से ही जानना चाहिए, क्योकि सबका कथन असम्भव है ।

[निदर्शना]

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित् तत् सदृशं फलम् ।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम् ॥३४८॥

अर्थ—कार्यान्तिर अर्थात् अन्य कार्य में प्रवृत्त मनुष्य के द्वारा उसके समान किसी उत्कृष्ट या अपकृष्ट फलप्राप्ति का यदि प्रदर्शन किया जाय तो वह निदर्शना अलकार होता है ।

टिप्पणी—दर्पणकार के मत में इसकी यह परिभाषा है—

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कश्चन ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्व दर्शयेत् सा निदर्शना ॥

—सा० द० १०।५१

जहाँ वस्तुओ का परस्पर, सम्बन्ध सम्भव अथवा असम्भव होकर उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का बोधन करे, वहाँ निदर्शना अलकार होता है ।

उदयन्नेष सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम् ।
विभावयितुमृद्धीना फल सुहृदनुग्रहम् ॥३४९॥

अर्थ—'सम्पत्ति का फल मित्र का उपकार करना ही है' यह ज्ञापन कराने के लिए (कहा गया है कि) यह सूर्य उदय होते ही कमलो को श्री प्रदान करता है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में उदीयमान सूर्य के द्वारा कमलो को श्री प्रदान करना—इस माध्यम से मित्र द्वारा अनुग्रह रूपी उदय के फल का

निदर्शन किया गया है। इसके उत्कृष्ट होने के कारण यह सत्फलयुक्त निदर्शना है।

यातिं चन्द्रांशुभि. स्पृष्टा ध्वान्तराजी पराभवम्।
सद्यो राजविरुद्धाना सूचयन्ती दुरन्तताम् ॥३५०॥

अर्थ—चन्द्र-किरणो द्वारा स्पर्श की जाती हुई अधकारपक्ति राज-(राजा, चन्द्र) विरोधियो के शीघ्र ही बुरे अन्त की अथवा दु खमय अवसान की सूचना देती हुई, विनाश को प्राप्त होती है।

टिप्पणी—यहाँ चन्द्र-किरणो द्वारा पराजित होती हुई अधकारपक्ति राजद्रोहियो के बुरे अन्त रूपी असत् फल का निर्देश करती है, अत यह असत्फल-निदर्शना है।

[सहोक्ति, परिवृत्ति]

सहोक्ति सहभावेन कथन गुणकर्मणाम् ।
अर्थाना यो विनिमय परिवृत्तिस्तु सा स्मृता ॥३५१॥

अर्थ—गुण तथा क्रिया के सहभाव से कथन करने को सहोक्ति कहते हैं। वस्तुओ का आदान-प्रदान परिवृत्ति कहलाता है।

टिप्पणी—द्रव्य आदि के सहभाव से कथन करने को भी सहोक्ति जानना चाहिए। साहित्यदर्पणकार ने कहा भी है

सदार्थस्य वलादेक यत्र स्याद्वाचक द्वयो ।
सा सहोक्तिररिति।

परिवृत्ति ३ प्रकार की होती है–समवाले के साथ समवाले का, अधिक वाले के साथ कमवाले का, कम वाले के साथ अधिकवाले का आदान-प्रदान।

(सहोक्ति)

सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रय ।
पाण्डुराश्च ममैवाङ्गै सह ताश्चन्द्रभूषणा ॥३५२॥

अर्थ—इस समय ये रात्रियाँ मेरे श्वासों के साथ-साथ दीर्घ हो गई है और चन्द्र-ज्योत्स्ना से विभूषित वे रात्रियाँ मेरे ही अगो के साथ पाडु (पीत) वर्ण की हो गई हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में रात्रियो के दीर्घ होने रूप सहभाव के कथन के कारण सहोक्ति है। चन्द्र-ज्योत्स्ना तथा अगों के पीतवर्ण होने रूप सहभाव के कथन के कारण सहोक्ति है। यहाँ पर दीर्घ तथा पाडु गुणो का श्वास तथा अगो के द्वारा समावेश दिखाई देने के कारण यहाँ गुण-सहोक्ति है।

वर्धते सह पान्थाना मूर्च्छया चूतमञ्जरी ।
पतन्ति च समं तेषामसुभिर्मलयानिलाः ॥३५३॥

अर्थ—प्रवासियो की मूर्छा के साथ आम्रमजरी बढती है और मलय-समीर उनके प्राणो के साथ कम होता है।

टिप्पणी—यहाँ पर बढने तथा घटने की क्रिया के सहभाव से मूर्छा व आम्रमजरी तथा मलय-मारुत व प्राण के सम्वन्वित होने से चमत्कारोत्पत्ति हुई है अत यह क्रियासहोक्ति है।

कोकिलालापसुभगा सुगन्धिवनवायव ।
यान्ति सार्घ जनानन्दैर्वृद्धि सुरभिवासरा. ॥३५४॥

अर्थ—कोयल के कुहकने के कारण मधुर तथा मनोहर और सुगन्वित दक्षिण पवन से युक्त वसन्त के दिवस मनुष्यो के आनन्द के साथ वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—इस उदाहरण में वसन्त के दिनो तथा मनुष्य के आनन्द के सहभाव का कथन किया गया है अत यह सहोक्ति है। वृद्धिरूप गुण तथा व्याप्ति-रूप क्रिया की समानता के कारण यह गुण-क्रिया-युक्त सहोक्ति है।

इत्युदाहृतयो दत्ता सहोक्तेरत्र काश्चन ।

अर्थ—इस प्रकार सहोक्ति के यहाँ कुछ उदाहरण दिये गये।

(परिवृत्ति)

क्रियते परिवृत्तेश्च किंचिद्रूपनिदर्शनम् ॥३५५॥

अर्थ—परिवृत्ति का कुछ रूप-निरूपण किया जाता है।

शस्त्रप्रहार ददता भुजेन तव भूभुजाम् ।
चिरार्जित हृतं तेषां यश कुमुदपाण्डुरम् ॥३५६॥

अर्थ—राजाओ पर शस्त्र-प्रहार करते हुए आपकी भुजा ने उनके अत्यन्त चिरकाल से एकत्रित किये हुए कुमुद पुष्प के समान पाडु वर्ण के यश को अपहृत कर लिया ।

टिप्पणी—यहाँ पर कम के द्वारा अधिक के ग्रहण करने रूप विनिमय को जानना चाहिए ।

[आशीः]

आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशसन यथा ।
पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरम् ॥३५७॥

अर्थ—अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति के लिए अभिलाषा के प्रकाशन को अथवा प्रिय मित्र आदि के लिए शुभ प्रार्थना के करने को 'आशी' नामक अलकार कहते हैं । जैसे—वाणी तथा मन से अगोचर अर्थात् अदृष्ट परम ज्योति अर्थात् परमेश्वर तुम्हारी रक्षा करें ।

टिप्पणी – यहाँ पर प्रिय-जन के लिए शुभाशीष दिया गया है अत 'आशी.' अलकार स्पष्ट है । वैचित्र्याभाव के कारण बहुत से विद्वान् इसे अलकारो की कोटि में नही गिनते ।

अनन्वयससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ ।
उपमारूपक चापि रूपकेष्वेव दर्शितम् ॥३५८॥

अर्थ—अनन्वय तथा सन्देह—दोनो अलकार उपमा के भेदो के अन्तर्गत दिखा दिये गये हैं और उपमा-रूपक भी रूपक के भेदो में दिखा दिया गया है ।

उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि च ।

अर्थ—यह उत्पेक्षा-अवयव भी उत्प्रेक्षा का ही भेद है ।

[ससृष्टि]

नानालङ्कारससृष्टि· ससृष्टिस्तु निगद्यते ॥३५९॥

अर्थ—विभिन्न अलकारो का एकत्र समावेश ही ससृष्टि कहलाता है ।

टिप्पणी—जिस प्रकार हार, कुण्डल आदि के समाविष्ट होने से

शोभा अत्यन्त वढ जाती है, उमी प्रकार विभिन्न अलकारो के एक स्थान पर ही समन्वय करने से शोभा की वृद्धि होती है।

अङ्गाङ्गिभावावस्थान सर्वेषा समकक्षता ।
इत्यलङ्कारससृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गति· ॥३६०॥

अर्थ—गौण-प्रधान भाव से स्थित होना तथा सवकी एकसमानता या तुल्यवलता का होना—ससृष्टि अलकार के यह दो प्रकार के भेद होते हैं।

टिप्पणी—इसमें ससृष्टि के दो भेद वताये गये हैं। प्रथम तो यह है कि इसमें एक अलकार गौण तथा दूसरा प्रधान होता है। दूसरा भेद यह होता है कि सव अलकार तुल्यवल वाले होते हैं।

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे ! तव मुखश्रियम् ।
कोषदण्डसमग्राणा किमेषामस्ति दुष्करम् ॥३६१॥

अर्थ—हे मुग्धे ! कमल तेरी मुख-शोभा का तिरस्कार करते हैं, कोश (एकत्रित पराग, धनराशि) दड (कमल-नाल, राजनीति का तीसरा उपाय) इन सवके होते हुए इनके लिए क्या कार्य दुष्कर है !

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में श्लिष्ट हेतु या अर्थान्तरन्यास गौण है तथा उपमा प्रधान है। अत यहाँ दोनो अलकारो की गौण तथा प्रधान भाव से स्थिति होने के कारण अगागिभाव है।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभ ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलता गता ॥३६२॥

अर्थ--अधकार मानो अगो पर अवलेपन कर रहा है, आकाश मानो अजन की वर्षा कर रहा है। दृष्टि असज्जन पुरुषो की सेवा के समान निष्फल हो रही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा है तथा उत्तरार्द्ध में उपमा है। इन दोनो की परस्पर निरपेक्ष स्थिति होने के कारण अर्थात् दोनो की प्रधानता होने से यहाँ अगागिभाव-ससृष्टि है।

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥३६३॥

अर्थ—श्लेष प्राय वक्रोक्तियो (वचनभगिमायुक्त अलकारो) की शोभा की अभिवृद्धि करता है। काव्य स्वाभाविक (अर्थात् वस्तु के स्वाभाविक-वर्णन से युक्त) तथा अलकृत (अर्थात् अलकारयुक्त) कथन से दो प्रकार का होता है।

[भाविक]

तद्भाविकमिति प्राहु· प्रवन्धविषय गुणम् ।
भाव. कवेरभिप्राय काव्येष्वासिद्धि सस्थित: ॥३६४॥

अर्थ—उस महाकाव्य आदि के विषयान्तर्गत गुण अर्थात् चमत्कार-जनक धर्म-विशेष को भाविक अलकार कहते हैं।' कवि का अभिप्राय ही भाव है जो काव्य की समाप्ति-पर्यन्त विद्यमान रहता है।

टिप्पणी—इस प्रकार यह भाव केवल पद या वाक्यगत ही नही होता अपितु सम्पूर्ण प्रबन्धगत होता है।

परस्परोपकारित्व सर्वेषा वस्तुपर्वणाम् ।
विशेषणाना व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥३६५॥

अर्थ—वस्तु के सभी आधिकारिक तथा प्रासगिक इतिवृत्तो का अगा-गिभाव से परस्पर सम्वन्ध, व्यर्थ विशेषणो का अप्रयोग, उपयोगी विषय का वर्णन।

टिप्पणी—कथावस्तु दो प्रकार की होती है आधिकारिक तथा प्रास-गिक। रामायण में राम-सीता की कथा आधिकारिक तथा सुग्रीव, विभी-षण आदि की कथा प्रासगिक है।

व्यक्तिरुक्तिक्रमवलाद्गम्भीरस्यापि वस्तुन ।
भावायत्तमिद सर्वमिति तद् भाविक विदु ॥३६६॥

अर्थ—क्रमपूर्वक वर्णन प्रस्तुत करने के सामर्थ्य से गम्भीर विषय की भी अभिव्यक्ति करना यह सब उस भाव पर आश्रित है। इस प्रकार यह

भाविक माना जाता है।

[अर्थालङ्कार का उपसंहार]

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव न ॥३६७॥

अर्थ—संधि और उसके अंग, वृत्ति और उसके अंग, और लक्षण आदि का जो विशेष रूप से वर्णन किया गया है यह सब हमको अलकार के रूप में ही इष्ट है अर्थात् इनको हम अलकार के अन्तर्गत मानते हैं।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र में पाँच सन्धियाँ मानी गई हैं। जो इस प्रकार हैं—मुखसन्धि, प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि, अवमर्षसंधि तथा निर्वहण-सन्धि। इन सन्धियो के उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन आदि चौसठ अग हैं।

वृत्तियाँ चार मानी गई हैं जो ये हैं

कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती।

इन चार वृत्तियो का विभिन्न रसो में स्थान नियत है, जो इस प्रकार है—

शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकी तथा।
सात्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतरसाश्रया ॥
रौद्रे भयानके चैव वृत्तिरारभटी भवेत् ।
बीभत्से करुणे चैव भारतीवृत्तिरिष्यते ॥

अर्थात् शृगार और हास्य में कैशिकी वृत्ति, वीर और अद्भुत में सात्वती वृत्ति, रौद्र और भयानक में आरभटी वृत्ति तथा बीभत्स और करुण रस में भारती वृत्ति प्रयुक्त की जाती है।

इन वृत्तियों के १६ अग हैं जो इस प्रकार हैं—

नर्म, नर्मस्फिज, नर्मस्फोट, नर्मगर्म—ये कैशिकी के अग हैं। सक्षिप्तक, अवपात, स्थापन, सस्फोट—ये आरभटी के अग हैं। उत्थापक, परिवर्तक सघात—ये सात्वती के अङ्ग हैं। प्ररोचना, प्रस्तावना, वीथी, प्रहसन

—ये भारती के अग हैं । इस प्रकार ये सब मिलाकर १६ अग होते हैं ।

भूषण, अक्षर, सहति आदि ३६ प्रकार के लक्षण हैं । यहाँ पर आदि शब्द के प्रयोग द्वारा नाट्यालकारों को भी ग्रहण किया गया है जिनका सविस्तार वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र में किया गया है ।

इस श्लोक से यह भी पता लगता है कि दडी रीति, अलकार, गुण आदि काव्य के कलापक्ष के अगो को अलकार के रूप में ही स्वीकार करते थे । इस प्रकार उनको अलकार-सम्प्रदाय का प्रथम आचार्य होने का श्रेय प्राप्त है ।

पन्था. स एव विवृत परिमाणवृत्त्या,
सहृत्य विस्तरमनन्तमलङ्क्रियाणाम् ।
वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमाना-
नभ्यास एव विवरीतुमल विशेषान् ॥३६८॥

अर्थ—स्वभावोक्ति आदि अलकारो के अनन्त विस्तार को सक्षिप्त करके परिमित रूप से यह अलकार-मार्ग दिखाया गया है । वाणी के विषय से परे जो सूक्ष्म अलकार हैं जिनका कथन सम्भव नही । ऐसे विशेष अल-कारो के विवरण अथवा प्रकाशन में अभ्यास ही समर्थ है, अर्थात् अभ्यास के द्वारा वे स्पष्ट किये जा सकते हैं ।

तृतीय परिच्छेद

[यमक]

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसहते ।
यमक तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥१॥

अर्थ—व्यवधान-रहित तथा व्यवधान-युक्त रूप वाले वर्ण-समुदाय की विशिष्ट पुनरावृत्ति को यमक कहते हे और वह यमक श्लोक के चरणो के आरम्भ, मध्य तथा अन्त में दृष्टिगोचर होता है ।

टिप्पणी—आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में माधुर्य गुण के प्रसग में भी अलकार का सकेत किया है । देखिए—

आवृत्ति वर्णसड्घातगोचरां यमक विदु ।
तत् तु नैकान्तमधुरमत पश्चाद्विधास्यते ॥—काव्यादर्श १.६१।

एकद्वित्रिचतुष्पादयमकाना विकल्पना. ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वत ॥२॥

अर्थ—एक, दो, तीन तथा चार चरणो वाले यमको के सर्वत्र आरम्भ, मध्य, अन्त, तथा मध्य और अन्त, तथा मध्य और आरम्भ, तथा आरम्भ और अन्त में अनेक होने से यमक के अनेक भेद होते हैं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में कथित यमक के भेदो की कुल सख्या ३१५ होती है । प्रथम श्लोक में आरम्भ, मध्य तथा अन्त में दृष्टिगत होने वाले यमक का साधारण भेद-प्रदर्शन के लिए निर्देश किया गया है ।

अत्यन्तबहवस्तेषा भेदा. सम्भेदयोनय. ।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तेऽत्र केचन ॥३॥

अर्थ—सजातीय, विजातीय यमको के सम्मिश्रण से उत्पन्न इनके अनेक भेद हैं जो सुबोध तथा दुर्बोध भी है। उनमें से कुछ यहां दिये जाते हैं ।

—ये भारती के अग है । इस प्रकार ये सब मिलाकर १६ अग होते हैं ।

भूषण, अक्षर, सहति आदि ३६ प्रकार के लक्षण हैं । यहाँ पर आदि शब्द के प्रयोग द्वारा नाट्यालकारो को भी ग्रहण किया गया है जिनका सविस्तार वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र में किया गया है ।

इस श्लोक से यह भी पता लगता है कि दडी रीति, अलकार, गुण आदि काव्य के कलापक्ष के अगो को अलकार के रूप में ही स्वीकार करते थे । इस प्रकार उनको अलकार-सम्प्रदाय का प्रथम आचार्य होने का श्रेय प्राप्त है ।

पन्था स एव विवृत. परिमाणवृत्त्या,
सहृत्य विस्तरमनन्तमलङ्क्रियाणाम् ।
वाचामतीत्य विषय परिवर्तमाना-
नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान् ॥३६८॥

अर्थ—स्वभावोक्ति आदि अलकारो के अनन्त विस्तार को सक्षिप्त करके परिमित रूप से यह अलकार-मार्ग दिखाया गया है । वाणी के विषय से परे जो सूक्ष्म अलकार हैं जिनका कथन सम्भव नही । ऐसे विशेष अलकारो के विवरण अथवा प्रकाशन में अभ्यास ही समर्थ है, अर्थात् अभ्यास के द्वारा वे स्पष्ट किये जा सकते हैं ।

तृतीय परिच्छेद

[यमक]

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहते. ।
यमक तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥१॥

अर्थ—व्यवधान-रहित तथा व्यवधान-युक्त रूप वाले वर्ण-समुदाय को विशिष्ट पुनरावृत्ति को यमक कहते है और वह यमक श्लोक के चरणो के आरम्भ, मध्य तथा अन्त में दृष्टिगोचर होता है।

टिप्पणी—आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में माधुर्य गुण के प्रसग में भी अलंकार का सकेत किया है। देखिए—

आवृत्ति वर्णसङ्घातगोचरां यमक विदु. ।
तत् तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ॥—काव्यादर्श १.६१।

एकद्वित्रिचतुष्पादयमकाना विकल्पना ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वत ॥२॥

अर्थ—एक, दो, तीन तथा चार चरणो वाले यमको के सर्वत्र आरम्भ, मध्य, अन्त, तथा मध्य और अन्त, तथा मध्य और आरम्भ, तथा आरम्भ और अन्त में अनेक होने से यमक के अनेक भेद होते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में कथित यमक के भेदो की कुल सख्या ३१५ होती है। प्रथम श्लोक में आरम्भ, मध्य तथा अन्त में दृष्टिगत होने वाले यमक का साधारण भेद-प्रदर्शन के लिए निर्देश किया गया है।

अत्यन्तबहवस्तेषा भेदा सम्भेदयोनय ।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तेऽत्र केचन ॥३॥

अर्थ—सजातीय, विजातीय यमको के सम्मिश्रण से उत्पन्न इनके अनेक भेद है जो सुबोध तथा दुर्बोध भी है। उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते है।

मानेन मानेन सखि ! प्रणयोऽभूत् प्रिये जने ।
खण्डिता कण्ठमाश्लिष्य तमेव कुरु सत्रपम् ॥४॥

अर्थ—हे सखि ! प्रिय-जन के प्रति इस प्रकार के मान से युक्त होकर प्रेम मत कर, अर्थात् कोप से कलुषित होकर प्रियजन के प्रति पराङ्मुख मत हो। खण्डिता नायिका होती हुई भी तू कण्ठ से आलिंगन करके उसको ही लज्जित कर।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'मानेन मानेन' यह व्यवधान-रहित चरण के आदि में आया हुआ आदिपादगत यमक है।

'खण्डिता' नायिका का लक्षण इस प्रकार है—

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नित. ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥

नायिका-भेद के अन्तर्गत खडिता वह नायिका होती है जो ईर्ष्यायुक्त होती है और जिसका पति अन्य नायिका से सम्भोग के कारण रति के चिह्नों से युक्त होकर अपने घर पर आता है।

मेघनादेन हंसाना मदनो मदनोदिना ।
नुन्नमान मन स्त्रीणां सह रत्या विगाहते ॥५॥

अर्थ—हसो के मद का निराकरण करने वाले मेघ के गर्जन से मान से रहित हुए स्त्रियो के मन को कामदेव रति (काम की पत्नी) के साथ अनुराग से आलोडित करता है, अर्थात् घन-गर्जन को सुनकर सब स्त्रियो का चित्त मान-रहित होकर अनुराग से पूरित हो जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में दूसरे पाद के व्यवधान-रहित पद के आरम्भ में 'मदनो मदनो' यह यमक है।

राजन्वत्य प्रजा जाता भवन्त प्राप्य सत्पतिम् ।
चतुर चतुरम्भोधिरशनोर्वीकरग्रहे ॥६॥

अर्थ—चारो समुद्र जिसकी मेखला हैं ऐसी पृथ्वी के कर (राजा द्वारा ग्राह्य भाग, हाथ) को ग्रहण करने में, आप-जैसे चतुर को प्राप्त करके इस समय प्रजा राजायुक्त हो गई।

टिप्पणी—यहां पर 'चतुर चतुर' यह व्यवधान-रहित तीसरे पाद के आदि भाग में यमक है।

अरण्यं कैश्चिदाक्रान्तमन्यैः सद्म दिवौकसाम्।
पदातिरथनागाश्वरहितैरहितैस्तव ॥७॥

अर्थ—तुम्हारे कुछ शत्रुओ द्वारा पैदल सेना, रथ, हाथी और घोडो से रहित होकर वन का आश्रय लिया गया और अन्य के द्वारा देवो का स्थान अर्थात् स्वर्ग प्राप्त किया गया।

टिप्पणी—यहां पर 'रहितै-रहितै' इन चतुर्थ पद के आदि में व्यवधान-रहित यमक है।

मधुर मधुरम्भोजवदने ! वदनेत्रयो ।
विभ्रमं भ्रमरभ्रान्त्या विडम्बयति किं नु ते ॥८॥

अर्थ—हे पद्ममुखी ! बतलाओ कि वसन्त इस मधुर भ्रान्ति से कि ये भ्रमर है तुम्हारे नेत्रो की विडम्बना तो नही करता ?

टिप्पणी—इस उदाहरण में 'मधुर मधुर' इस प्रथम चरण के प्रथम भाग में तथा 'वदने वदने' इस द्वितीय पाद के प्रथम भाग में व्यवधान-रहित यमक है।

वारणो वा रणोद्दामो हयो वा स्मर ! दुर्धर ।
नयतो नयतोऽन्त नस्तदहो विक्रमस्तव ॥९॥

अर्थ—हे कामदेव ! रणोन्मत्त हाथी या दुर्धर्ष घोडा नही है तो भी युद्ध के साधनो से रहित होते हुए तुम्हारा विक्रम हमको विनाश की ओर ले जा रहा है। आश्चर्य है !

टिप्पणी—इस उदाहरण मे 'वारणो वारणो' और 'नयतो नयतो' ये प्रथम व तृतीय पादगत मिश्र व्यवधान-रहित आदि भाग में यमक है।

राजितैराजितैक्ष्ण्येन जीयते त्वादृशैर्नृपैः ।
नीयते च पुनस्तृप्ति वसुधा वसुधारया ॥१०॥

अर्थ—आप-जैसे युद्ध की तीक्ष्णता से शोभित राजाओ के द्वारा पहले पृथ्वी जीती जाती है और फिर धनादि की वृष्टि द्वारा तृप्त की जाती है।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम और चतुर्थ पाद के आरम्भ में 'राजितै राजितै' और 'वसुधा वसुधा' ये व्यवधान-रहित यमक है।

करोति सहकारस्य कलिकोत्कलिकोत्तरम् ।
मन्मनो मन्मनोऽप्येष मत्तकोकिलनिस्वन. ॥११॥

अर्थ—न केवल आम्रमजरी ही अपितु यह अव्यक्त मधुर (प्रिय आलाप) मस्त कोयल की आवाज भी मेरे मन को उत्कण्ठापूर्ण करती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीय और तृतीय पाद के आरम्भ में 'कलिकोत्कलिको' 'मन्मनो मन्मनो' ये व्यवधान-रहित यमक है।

कथ त्वदुपलम्भाशाविहताविह तादृशी ।
अवस्था नालमारोढुमङ्गनामङ्गनाशिनी ॥१२॥

अर्थ—यहाँ तुम्हारे समागम की आशा के नष्ट होने पर शरीरागों का नाश करने वाली वैसी अवस्था इस स्त्री को आक्रान्त करने में क्या समर्थ नहीं ?

टिप्पणी—यहाँ पर द्वितीय तथा चतुर्थ पाद के प्रारम्भ में 'विहता विहता' तथा 'मङ्गना मङ्गना' ये व्यवधान-रहित यमक है।

निगृह्य नेत्रे कर्षन्ति बालपल्लवशोभिना ।
तरुणा तरुणान् कृष्टानलिनो नलिनोन्मुखा. ॥१३॥

अर्थ—कमल के लोभी भ्रमर अभिनव किसलयो से सुशोभित वृक्षो से आकृष्ट हुए युवको के नेत्रो को आकर्षित कर अपनी ओर खीचते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में तृतीय चतुर्थ पाद के आरम्भ में प्रयुक्त 'तरुणा तरुणा' तथा 'नलिनो नलिनो' ये व्यवधान-रहित यमक है।

विशदा विशदामत्तसारसे सारसे जले ।
कुरुते कुरुतेनेय हसी मामन्तकामिषम् ॥१४॥

अर्थ—जिस सरोवर के जल में उन्मत्त सारस (पक्षी-विशेष) प्रवेश कर रहे हैं उनमें प्रविष्ट हुई यह निर्मला हंसी (मुझ विरही को अप्रीति-कर) अपने कुत्सित शब्द से यम का भोज्य बना रही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'विशदा विशदा', 'सारसे सारसे' तथा

'कुरुते कुरुते' ये प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद के आदि में प्रयुक्त व्यवधान-रहित यमक हैं।

विषम विषमन्वेति मदन मदनन्दन. ।
सहेन्दुकलयापोढमलया मलयानिल ॥१५॥

अर्थ—मुझे अप्रिय लगनेवाली मलय-पवन निर्मल चन्द्रकला के साथ असह्य विष-स्वरूप कामदेव का अनुसरण करती है ।

यहाँ पर प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पादो के आरम्भ प्रयुक्त 'विषम विषम', 'मदन मदन' तथा 'मलया मलया' ये व्यवधान-रहित यमक हैं।

मानिनी मा निनीषुस्ते निषङ्गत्वमनङ्ग ! मे ।
हारिणी हारिणी शर्म तनुता तनुता यत. ॥१६॥

अर्थ—हे कामदेव ! मुझको तेरा तरकस बनाने की इच्छा वाली, हार आदि अलकारो से सुशोभित तथा मनोहारिणी कृशता को प्राप्त होती हुई यह मानवती नारी मेरे सुख का विस्तार करे।

टिप्पणी—इसमें प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ पाद के आदि भाग में प्रयुक्त 'मानिनी मानिनी', 'हारिणी हारिणी' तथा 'तनुता तनुता' ये व्यवधान-रहित यमक है ।

जयता त्वन्मुखेनास्मानकथ न कथ जितम् ।
कमल कमल कुर्वदलिमद्दलि मत्प्रिये ॥१७॥

अर्थ—हे मेरी प्रिये ! तेरे मुख ने हमको जीतते हुए जल की शोभा बढाने वाले भ्रमरो के समान दल वाले अथवा भ्रमर तथा दल से युक्त, वाणी-रहित, मूक कमल को क्यो नही जीता ?

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में दूसरे, तीसरे तथा चौथे पादो के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'नकथ नकथ', 'कमल कमल' और 'दलिमत् दलिमत्' ये व्यवधान-रहित यमक हैं ।

रमणी रमणीया मे पाटलापाटलाशुका ।
वारुणी वारुणीभूतसौरभा सौरभास्पदम् ॥१८॥

करेण ते रणेष्वन्तकरेण द्विषता हता. ।
करेणव· क्षरद्रक्ता भान्ति सन्ध्याघना इव ॥२६॥

अर्थ—युद्धक्षेत्रो में शत्रु-सहारक तेरे हाथो से मारे गये हाथी—जिनसे रक्त प्रसवित हो रहा है—सायकालीन (लाल) मेघो के समान शोभित हो रहे हैं।

टिप्पणी—यहां पर प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद के आरम्भ में प्रयुक्त 'करेण' यह व्यवधानयुक्त यमक है।

परागतरुराजीव वातैर्ध्वस्ता भटैश्चमू ।
परागतमिव क्वापि परागततमम्बरम् ॥२७॥

अर्थ—वायु के द्वारा ऊँचे पर्वत पर स्थित वृक्ष-पक्ति के समान, आपके योद्धाओ के द्वारा शत्रुसेना नष्ट कर दी गई। उस समय उठी हुई धूल के आकाश में छा जाने पर ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश कही भाग गया है (अदृश्य हो गया है)।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ पाद के आदि में 'परागत' व्यवधानयुक्त प्रयुक्त होने से यमक है।

पातु वो भगवान् विष्णु. सदा नवघनद्युति ।
स दानवकुलध्वसी सदानवरदन्तिहा ॥२८॥

अर्थ—मदयुक्त श्रेष्ठ हाथी को मारने वाले तथा दानव-कुल के विनाशक नवीन मेघो की कान्ति वाले वह भगवान् विष्णु सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद के आदि में प्रयुक्त 'सदानव' व्यवधानयुक्त मिश्र यमक है।

कमले समकेश ते कमलेर्ष्याकर मुखम् ।
कमलेख्य करोषि त्व कमलेवोन्मदिष्णुषु ॥२६॥

अर्थ—तुम्हारे केश भ्रमर के समान हैं तथा मुख कमल से ईर्ष्या करने वाला है। तू लक्ष्मी के समान किसी पुरुष को उन्मत्तो के मध्य में नही गिनती हो (अर्थात् जिस प्रकार लक्ष्मी सबको उन्मत्त कर देती है उसी

प्रकार तुम भी सबको उन्मत्त कर देती हो)।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ सब पादो के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'कमल' व्यवधानयुक्त मिश्र यमक है।

मुदा रमणमन्वीतमुदारमणिभूषणाः ।
मदभ्रमद्दृशः कर्तुं मदभ्रजघना क्षमाः ॥२०॥

अर्थ—उत्कृष्ट रत्नों के आभूषणो से युक्त, मद के कारण नेत्रो को नचाती हुई पृथुल नितम्बो वाली (रमणियाँ) अपने प्रेमियो को आनन्द-पूर्वक अपना अनुगामी बनाने में समर्थ हो सकती हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रथम तथा द्वितीय पाद के आदि में 'मुदारम' तथा तृतीय और चतुर्थ पाद के आरम्भ में 'मदभ्र' ये विजातीय व्यवधानयुक्त मिश्र यमक हैं।

उदितैरन्यपुष्टानामारुतैर्मे हृतं मन ।
उदितैरपि ते दूति मारुतैरपि दक्षिणैः ॥२१॥

अर्थ—हे दूती! कोयलो की ऊँची उठती हुई ध्वनि से, तेरे द्वारा कथित (प्रिया के क्लेशयुक्त) वचनो से तथा मलय-पवनो से मेरा मन व्यथित हो रहा है।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम तथा तृतीय पाद के आरम्भ में प्रयुक्त 'उदितै' तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद के आदि में प्रयुक्त 'मारुतै' ये मिश्र व्यवधानयुक्त यमक है।

सुराजिताह्रियो यूनां तनुमध्यासते स्त्रिय.।
तनुमध्या क्षरत्स्वेदसुराजितमुखेन्दव ॥२२॥

अर्थ—क्षीण कटि वाली तथा स्वेद के प्रस्रवित होने से जिनके मुख-चन्द्र सुशोभित हो रहे हैं और जिनकी लज्जा को मदिरा ने जीत लिया है, ऐसी युवतियाँ युवको के शरीर का आश्रय लेती हैं।

टिप्पणी—इस उदाहरण में प्रथम तथा चतुर्थ पाद के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'सुराजित' तथा द्वितीय, तृतीय पाद के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'तनु-मध्या' ये व्यवधानयुक्त मिश्र यमक है।

समुज्ज्वल गुणो को देवता नही प्राप्त करते, ऐसा नही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'सुरा' यह प्रत्येक पाद के मध्य में व्यवधानयुक्त मिश्र यमक है।

तव प्रिया सच्चरिताप्रमत्त या,
विभूषणं धार्यमिहाशुमत्तया ।
रतोत्सवामोदविशेषमत्तया,
प्रयोजनं नास्ति हि कान्तिमत्तया ॥४१॥

अर्थ—सच्चरित्र तथा अप्रमत्त, भोगविलासजन्य आमोद विशेष से उन्मत्त जो तुम्हारी प्रिया है उसे यहाँ इस उत्सव के प्रसग में समुज्ज्वल आभूषण धारण करने चाहिएँ। स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण उसे आभूषण पहनने से कोई मतलब नही है।

टिप्पणी—यहाँ पर चारो पादो के अन्त में प्रयुक्त 'मत्तया' यह व्यवधान-युक्त मिश्र यमक है।

भवादृशा नाथ ! न जानते नते,
रसं विरुद्धे खलु सन्नतेनते ।
य एव दीना. शिरसा नतेन ते,
चरन्त्यल दैन्यरसेन तेन ते ॥४२॥

अर्थ—हे स्वामिन्! आप-जैसे प्रभु नम्रताजन्य रस के आस्वाद को नही जानते क्योकि निश्चय ही नम्रता तथा प्रभुता निसर्गत परस्पर-विरोधी हैं। जो मनुष्य दरिद्र है वे ही सिर झुकाकर तुम्हारी सेवा करते हैं। अत शिर-नमन द्वारा उद्भूत दैन्य के रस से आपको पृथक् रहना चाहिए।

टिप्पणी—यहाँ पर चारो पादो के अत में प्रयुक्त 'नते नते' यह व्यधान-रहित मिश्र यमक है।

लीलास्मितेन शुचिना मृदुनोदितेन,
व्यालोकितेन लघुना गुरुणा गतेन।
व्याजृम्भितेन जघनेन च दर्शितेन,
सा हन्ति तेन गलित मम जीवितेन ॥४३॥

अर्थ—वह नायिका निर्मल विलासयुक्त मुसकराहट, कोमल वाणी, अपाङ्ग दृष्टि, तीव्र गति, जम्हाई तथा जंघा के प्रदर्शन द्वारा मुझे व्यथित कर रही है, जिससे मेरा जीवन विनाश को प्राप्त कर रहा है।

टिप्पणी—यहां पर प्रत्येक पाद के मध्य तथा अन्त में प्रयुक्त 'तेन' व्यवधानयुक्त मित्र यमक है।

श्रीमानमानमरवर्त्मसमानमान -
मात्मानमानजगत्त्त प्रथमानमानम्।
भूमानमानमत य. स्थितिमानमान-
नामानमानमतमप्रतिमानमानम् ॥४४॥

अर्थ—हे भक्तो ! उस लक्ष्मीवान् या शोभावान्, मर्यादावान्, अपरिमेय, अपरिमित नामवाले को योगियो द्वारा जाने हुए को, अद्वितीय मानवाले को, जिसकी पूजा सम्पूर्ण विश्व करता है, जो आकाशवत् सर्वव्यापी है, उस महान् परमात्मा को प्रणाम करो।

टिप्पणी—इस उदाहरण के मध्य तथा अन्त में प्रयुक्त 'मान मान' यह व्यवधानयुक्त तथा व्यवधानरहित मिश्र यमक है।

सारयन्तमुरसा रमयन्ती,
सारभूतमुरुसारधरा तम्।
सारसानुकृतसारसकाञ्ची,
सा रसायनमसारमवैति ॥४५॥

अर्थ—वह नायिका अत्यधिक सौंदर्ययुक्त अथवा सुवर्ण के आभूषणो को धारण किये हुए, सारस के शब्द की अनुकारिणी, मेखला को धारण किये हुए, सकेत स्थान पर आये हुए सब सुखों के सारभूत उस श्रेष्ठ नायक को वक्षस्थल से लगाकर प्रमुदित करती हुई अमृत को निस्सार (तुच्छ) समझती है।

टिप्पणी—इसमें प्रत्येक पाद के आदि तथा मध्य में प्रयुक्त 'सार' व्यवधानयुक्त मिश्र यमक है।

अर्थ--दो पादो के अन्त तथा आदि में आये हुए को सन्दष्ट यमक कहते हैं। यद्यपि यह पूर्वकथित प्रकारो के अन्तर्गत आ चुका है फिर भी यहाँ पर इसका स्वतन्त्रता से कथन किया जाता है।

टिप्पणी—तीसरे परिच्छेद का ४७वाँ श्लोक भी सदष्ट यमक का उदाहरण हो सकता है।

उपोढरागाप्यबला मदेन सा,
मदेनसा **मन्युरसेन** योजिता ।
न योजिता**त्मानमन**ङ्गतापिता-
ङ्गतापि ता**पाय ममास नेयते** ॥५२॥

अर्थ—उस अबला ने यौवन-मदिरा के मद से उमडते हुए अनुराग वाली होकर भी, मेरे अपराध के कारण क्रोध के आवेग से युक्त एव काम-जन्य सन्ताप से अभिभूत होती हुई भी मुझमें अपने चित्त का नियोजन नही किया, अर्थात् मुझमें अनुरक्त नही हुई। अतः मुझे अत्यन्त सन्ताप-दायक नही हुई अर्थात् महान् सन्तापदायक हुई।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रयुक्त 'मदेनसा' 'नयोजिता' 'ङ्गतापिता' आदि सन्दष्ट यमक के द्योतक हैं।

अर्धाभ्यास. समुद्ग स्यादस्य भेदास्त्रयो मता ।
पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा व्यज्यते स निदर्शनै ॥५३॥

अर्थ—दो पादो की पुनरावृत्ति 'समुद्ग यमक' कहलाती है। इसके तीन भेद माने गये हैं। पाद की आवृत्ति भी अनेक प्रकार की होती है। वह उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट की जाती है।

टिप्पणी—समुद्ग यमक के तीन भेद निम्नलिखित हैं

१ प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद समान होते हैं।
२ इसमें प्रथम-तृतीय तथा द्वितीय-चतुर्थ समान होते हैं।
३. इसमें प्रथम-चतुर्थ तथा द्वितीय-तृतीय समान होते हैं।

ना स्थेय स्वत्वया वर्ज्य परमायतमानया ।
नास्थेय स त्वयावर्ज्य परमायतमानया ॥५४॥

अर्थ—अत्यन्त विस्तृत मानवाली (अत्यन्त मानशालिनी) तथा स्थिर स्वभाववाली तुझसे वह नायक परित्याज्य नही है, प्रत्युत् समादरणीय है तथा अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अनुकूल आचरण के द्वारा अपने वश में करने योग्य है।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम, तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद तुल्य हैं अत यह समुद्ग यमक है।

नरा जिता माननयानमेत्य
न राजिता माननया समेत्य।
विनाशिता वैभव तापनेन
विनाशिता वै भवतापनेन ॥५५॥

अर्थ—हे सम्माननीय राजन्, तेरे द्वारा जीते हुए शत्रु मान तथा नीति के अभाव को प्राप्त होकर शोभित न हुए अर्थात् विनष्ट कान्तिवाले हो गये। आपके विश्वव्यापी वैभवजन्य सन्ताप के द्वारा नष्ट कर दिये गये तथा पक्षियो के द्वारा खा लिये गये।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रथम दो पादो की तथा द्वितीय दो पादो की पुनरावृत्ति हुई है अतः यह समुद्ग यमक है।

कलापिना चारुतयोपयान्ति
वृन्दानि लापोढघनागमानाम्।
वृन्दानिलापोढवनागमाना,
कलापिना चारुतयोपयान्ति ॥५६॥

अर्थ—केकाध्वनि के द्वारा वर्षाकाल के आगमन को सूचित करने वाले मयूरो के समूह सुन्दरता को प्राप्त होते हैं। सघीभूत (एकत्रीभूत) वायु से दूर कर दिया गया है घनागम (नृत्य विशेप) जिनका, ऐसे हसो के मधुर स्वर सुनाई पड रहे हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण के प्रथम-चतुर्थ तथा द्वितीय-तृतीय पाद समान है। यह समुद्ग यमक है।

नमन्दयावर्जितमानसात्मया ,
न मन्दयावर्जितमानसात्मया ।
उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वय ,
मया समालिङ्ग्यत जीवितेश्वर ॥५७॥

अर्थ—दयारहित मन और आत्मावाली तथा प्रयत्नपूर्वक मान की रक्षा करनेवाली मुझ मूर्खा के द्वारा पैरो पर झुके हुए प्राणनाथ के वक्ष-स्थल पर रक्खे जाते हुए निज पयोधरो के रूप में आलिंगन नही किया गया ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण 'पादाभ्यास' यमक का है जिसमें प्रथम दो पादो की आवृत्ति हुई है।

सभा सुराणामबला विभूषिता
गुणैस्तवारोहि मृणालनिर्मलै. ।
स भासुराणामबला विभूषिता
विहारयन्निर्विश सपदः पुराम् ॥५८॥

अर्थ—हे राजन्, आपके कमल-दण्ड के समान निर्मल गुणो के द्वारा बलासुर-रहित देवताओ की सभा विभूषित है अर्थात् देवसभा में इन्द्र आदि देवता आपके गुणो का वर्णन करते है ऐसे आप अलकृत रमणियो के साथ रमण करते हुए समृद्ध नगरो की सम्पदा का उपभोग कीजिए।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम तथा तृतीय पाद समास है अत यह पादा-भ्यास यमक है ।

कल कमुक्त तनुमध्यनामिका
स्तद्वयी च त्वदृते न हन्त्यत ।
न याति भूत गणने भवन्मुखे
कलङ्कमुक्त तनुमध्यनामिका ॥५९॥

अर्थ—स्त्रियो की मधुरवाणी तथा स्तनो के भार से झुकी हुई क्षीण कटि आपके अतिरिक्त अन्य किसको पीडित नही करती । इस कारण से आप जिसमें प्रमुख हैं ऐसे जितेन्द्रिय पुरुषो की गणना अनामिका पर गिनने

के लिए दोषरहित शरीरधारी जीव नही मिलता। अर्थात् आपके द्वारा ही अनामिका सार्थक है।

टिप्पणी—इसमें प्रथम तथा चतुर्थ पादो की समानता होने से यहाँ पादाभ्यास यमक है।

यशश्च ते दिक्षु रजश्च सैनिका
वितन्वतेऽजोपम ! दशिता युधा।
वितन्वतेजोपमद शितायुधा
द्विषां च कुर्वन्ति कुल तरस्विन॰ ॥६०॥

अर्थ—हे विष्णु-सदृश राजन् अज ! आपके कवचधारी, तीक्ष्ण अस्त्रो से युक्त, वेगवान् सैनिक युद्ध के द्वारा धूलि तथा जयलाभ से प्राप्त यश का विस्तार कर रहे हैं और शत्रुओ के समूह को विनाश के द्वारा शरीर-रहित, तेज शून्य तथा गर्वरहित कर रहे हैं।

टिप्पणी—इसमें द्वितीय, तृतीय पाद समान रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

बिर्भात भूमेर्वलयं भुजेन ते
भुजङ्गमोऽमा स्मरतो मदञ्चितम्।
शृणूक्तमेक स्वमवेत्य भूधरं
भुज गमो मा स्म रतो मद चितम् ॥६१॥

अर्थ—हे राजन् ! शेषनाग वासुकी तेरी भुजाओ के सहारे भूमण्डल को धारण करता है। पूर्व वृत्तान्त को जानते हुए भी मुझसे कही जाती हुई सबके द्वारा प्रशसित बात को सुनिए। अपनी असहाय भुजाओ को पृथ्वी को धारण करने वाली जान सन्तुष्ट होकर अत्यन्त गर्व को धारण मत कीजिए।

टिप्पणी—यहां पर द्वितीय तथा चतुर्थ में एक ही आवृत्ति है।

स्मरानलो मानविर्वाधितो य
स निर्वृति ते किमपाकरोति।
समन्ततस्तामरसेक्षणेन
समं तनन्नामरसे क्षणेन ॥६२॥

अर्थ—हे रक्तकमललोचने ! अरसिके ! मान के कारण वृद्धि को प्राप्त हुई तथा उन्सव वासना से परिपूर्ण तुम्हारी कामाग्नि सर्वतोभावेन उस पूर्वानुभूत तेरे परमानन्द को क्या दूर न कर देगी, अर्थात् कर ही देगी।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में तृतीय तथा चतुर्थ पाद में आवृत्ति है।

प्रभावतोनाम न वासवस्य ,
प्रभावतो नामन वा सवस्य ।
प्रभावतो नाम नवासस्य ,
विच्छित्तिरासीत् त्वयि विष्टपस्य ॥६३॥

अर्थ—हे प्रभावान् ! अपने प्रभाव से किसी के सम्मुख न झुकनेवाले तथा शत्रु को झुकानेवाले, तेरे भुवन के स्वामी होने पर इन्द्र देवता से सम्बन्धित काति से युक्त यज्ञ का तथा नवीन मदिरा का पान करने से विच्छेद (विनाश) नही था, अर्थात् भोगियो का सुरापानोत्सव तथा धार्मिको का यज्ञ-कार्य निरन्तर चलते रहते थे।

टिप्पणी—इसमें प्रथम द्वितीय तथा तृतीय पादो में आवृत्ति होने से पादाभ्यास यमक है।

परम्पराया वलवारणाना
पर पराया बलवारणानाम् ।
धूली. स्थलीर्व्योम्नि विधाय रुन्धन्
परपराया बलवा रणानाम् ॥६४॥

अर्थ—हे परम कल्याणमय बलशाली ! तेरे बलवान् हाथियोके समूह ने दुर्बलो को युद्ध में रोकते हुए रणभूमि को धूलमय करके आकाश को आच्छादित करते हुए श्रेष्ठ शत्रु को जीत लिया है।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ पादो में आवृत्ति है।

न श्रद्दधे वाचमलज्ज मिथ्या
भवद्विधानामसमाहितानाम् ।
भवद्विधानामसमाहिताना ,
भवद्विधानामसमाहितानाम् ॥६५॥

अर्थ—हे निर्लज्ज ! तुम्हारे जैसे लोगो की उक्तियो में विश्वास नही करता हूँ। क्योकि उन उक्तियो का प्रतिपाद्य असत्य एव वक्र होता है, जिनका सर्प के समान अतिवक्र विस्तार होता है तथा आप-जैसे वक्र वृत्तिवाले व मेरे लिए विषम शत्रु के स्वरूप वाले पुरुषो की बातें प्रतिक्षण नवीन विधानयुक्त होती हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादो मे पादाभ्यास यमक है।

मन्नाहितोमानमराजसेन !
मन्नाहितोऽमानम ! राजसेन।
मन्नाहितो मानम राजसेन !
सन्नाहितो मानम राजसेन ॥६६॥

अर्थ—हे सज्जन ! चन्द्र तथा उमा को धारण करनेवाले शिव आपके साथ हैं, आप परिमाण-रहित लक्ष्मी को धारण करनेवाले हैं, लोभ आदि रजोगुणो के विकारो से रहित हैं, आपके शत्रु नष्ट हो गये हैं व आपके द्वारा विपक्षी राजसेना, सम्मान तथा लक्ष्मी-रहित की जा चुकी है अत आप युद्ध का उद्योग करते हुए शोभित नही होते हैं। आप सबके हित में रत हैं।

टिप्पणी—चारों पादो में आवृत्ति होने से यह पादाभ्यास यमक है।

सकृद् द्विस्त्रिश्च योऽभ्यास. पादस्यैवं प्रदर्शित.।
श्लोकद्वय तु युक्तार्थं श्लोकाभ्यास स्मृतो यथा ॥६७॥

अर्थ—इस प्रकार से पाद की एक, दो और तीन बार की पुनरावृत्ति प्रदर्शित की जा चुकी है। युक्त अर्थ अर्थात् समान पद (वर्णयुक्त) वाले दो समान श्लोक 'श्लोकाभ्यास' यमक कहलाते हैं। जैसे—

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना।
स्वमित्रोद्धारिणा भीना पृथ्वी यमतुलाश्रिता ॥६८॥
विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणाभीना पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥६९॥

अर्थ—तुम्हारे शत्रुनायक-रहित होने पर, भुजाओं के चिता के समीप (अर्थात् नष्ट) होने पर, ऐश्वर्य तथा मित्रों से परित्यक्त तथा भयभीत होने पर दीर्घ यम तुला पर चढा दिये गये। ॥६८॥

हे राजन्! आप जैसे विशिष्ट नायक के द्वारा—जिसकी भुजाएँ गोल तथा पुष्ट हैं, जो अपने शत्रुओं के विनाश में अतुल आश्रययुक्त अर्थात् अनुपम है—यह पृथ्वी भय-रहित हो गई है। ॥६९॥

टिप्पणी—प्रस्तुत ६८, ६९ के उदाहरणों में श्लोकाभ्यास यमक दिखलाया गया है।

एकाकारचतुष्पाद तन्महायमकाह्वयम् ।
तत्रापि दृश्यतेऽभ्यास सा परा यमकक्रिया ॥७०॥

अर्थ—जिसके समान आकृतिवाले चारों पाद होते हैं वह श्लोक महायमक कहलाता है। वहाँ पर भी आवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वह श्रेष्ठ यमक का विधान है।

समानयास मानया समानयासमानया ।
समानया समानया समान! या समानया ॥७१॥

अर्थ—हे सर्वत्र तुल्य यत्नशील या समदर्शी मित्र इस निरुपमा मानवती नायिका से हमें मिलाओ जो नायिका शोभा (लक्ष्मी) तथा विद्या (नीति) से युक्त है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में महायमक अलंकार है। यहाँ पर चारों पाद समान हैं और प्रत्येक पाद में आवृत्ति है।

धराधराकारधरा धराभुजा,
भुजा मही पातुमहीनविक्रमा ।
क्रमात् सहन्ते सहसा हतारयो
रयोद्धुरा मानधुरावलम्बिन ॥७२॥

अर्थ—पृथ्वी धारण करनेवाले शेषनाग के समान अतिदीर्घ, महापराक्रमशाली, शीघ्र ही शत्रुओं का नाश करनेवाले अत्यन्त वेगयुक्त मान के भार को वहन करनेवाले सम्मान के अभिमानी राजाओं के बाहु (भुजाएँ)

क्रम से (पूर्वजो के अनुक्रम से) पृथ्वी की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रथम पाद में प्रयुक्त 'धरा धरा' यह व्यवधान-रहित आदि तथा मध्य में यमक है तथा पादो के सन्धि-स्थलो में अन्त तथा आदि में व्यवधान-रहित सन्देश यमक है। तृतीय पाद में प्रयुक्त 'सहसह' में एक वर्ण का व्यवधान तथा चतुर्थ पाद में प्रयुक्त 'धुरामान-धुरा' में दो वर्णों का व्यवधान होने से मध्य यमक है। इस प्रकार यहाँ अनेक विजातियो का सम्मिश्रण है।

आवृत्ति प्रातिलोम्येन पादार्धश्लोकगोचरा।
यमक प्रतिलोमत्वात् प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥७३॥

अर्थ—पाद (श्लोक के चरण) आधे श्लोक या सम्पूर्ण श्लोक में प्रतिकूल क्रम से आवृत्ति होने पर उसे प्रतिलोमता (प्रतिकूलता) के कारण प्रतिलोम यमक कहा गया है।

या मताश ! कृतायासा सायाता कृशता मया।
रमणारकता तेस्तु स्तुतेताकरणामर ! ॥७४॥

अर्थ—हे अन्य के ससर्ग के प्रार्थी निन्दित आचरण के कारण अप्रशसनीय, अनुचित कार्यो के अनुष्ठान में देवताओ सा प्रनिबन्ध-रहित पति यथाभिलषित स्थान को चले जाइए, मैने तो तुम्हें प्रतीक्षाजन्य क्लेश से उद्भूत कृशता (क्षीणता) को पा लिया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में श्लोक के चरण की प्रतिकूल आवृत्ति प्रदर्शित की गई है। अत. यह पादगत प्रतिलोम यमक है।

नादिनो मदनाधी: स्वा न मे काचन कामिता।
तामिका न च कामेन स्वाधीना दमनोदिना ॥७५॥

अर्थ—ब्रह्म के ध्यान में निरत मुझे काम-जनित मानसी व्यथा तथा इन्द्रियां आत्मवादी हैं अत मुझे कोई विषयाभिलाषा नही है और न मुझे इन्द्रिय-संयम का श्रम करनेवाली अभिलाषा के कारण स्वाधीन, आत्मा

को व्याकुल करनेवाली ग्लानि ही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक में आधे श्लोक की प्रतिकूल आवृत्ति अगली पक्ति में की गई है अतः यह श्लोकार्द्धगत यमक है।

यानमानय माराविकशोनानजनासना ।
यामुदारशताधीना मायामायमनादि सा ॥७६॥

सा दिनामयमायामा नाधीता शरवामुया ।
नासनाजनना शोकविरामाय न मानया ॥७७॥

अर्थ—सैकडों धनी जिसके वशीभूत है उसके यहां मैं गया था तथा जो कामदेवरूपी बकरे का ताडन करनेवाली है, कामीजनो का हवन करने वाली है तथा धनाभाव के कारण हीन प्राणवालो का जो बहिष्कार करने वाली है उसने मुझे आने को कहा है ॥७६॥

वह इस शरत्काल के आने से मेरे विरह के कारण मन की पीडा को प्राप्त हुई है जो निरन्तर विरहजन्य दुःख का अनुभव करती रहती है तथा दिन में रोग के छल से विरह की पीडा को छिपाती है और जो विरह के दुःख के कारण एक जगह नही बैठती, वह मेरे आने की प्रतीक्षा में मार्ग देखती रहती है ॥७७॥

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरणो में पहले श्लोक की दूसरे श्लोक में प्रतिकूल आवृत्ति हुई है, अत यह प्रतिलोम यमक है।

[चित्रालंकार]

(गोमूत्रिकाबन्ध)

वर्णानामेकरूपत्वं यत्त्वेकान्तरमर्धयो ।
गोमूत्रिकेति तत् प्राहुर्दुष्करं तद्विदो यथा ॥७८॥

अर्थ—श्लोक में पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में क्रम से लिखित अक्षरो की,

–जो एक अक्षर के व्यवधान से युक्त होती है–ऐसी रचना जो कठिन है, उसके जाननेवाले (चित्रालकारवेत्ता) उसे गोमूत्रिका कहते हैं जैसे—

टिप्पणी—यह गोमूत्रिका तीन प्रकार की होती है। पादगोमूत्रिका, अर्द्धगोमूत्रिका, श्लोकगोमूत्रिका।

म द नो | म दि रा क्षी णा म पा ङ्गा स्त्रो | ज ये द यम्।
× × × × × × × ×
म दे नो | य दि | तत क्षी ण म न ङ्गा याञ्ज लि | द दे ॥७९॥

अर्थ—यह कामदेव जिनके मदिराक्षियो के कटाक्ष ही अस्त्र है, यदि मुझे जीत लें तो मद के कारण मेरा पाप क्षीण हो जायगा। मैं कामदेव को पुष्पाजलि अर्पित करता हूँ।

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक की प्रथम पक्ति में आये हुए विषम अक्षर म, नो दि, क्षी, मा, ङ्गा, ज और द—ये सब पुन द्वितीय पक्ति में भी इसी क्रम मे आते हैं। इसके अतिरिक्त इस श्लोक की प्रथम पक्ति को यदि बनाना चाहें तो द्वितीय पक्ति का प्रथम अक्षर और प्रथम पक्ति का द्वितीय अक्षर क्रमपूर्वक रखने से बन सकती है और द्वितीय पक्ति बनाने के लिए प्रथम पक्ति का प्रथम और द्वितीय पक्ति का द्वितीय अक्षर क्रमपूर्वक रखना चाहिए।

[अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र]

प्राहुरर्धभ्रम नाम श्लोकार्धभ्रमण यदि।
तदिष्ट सर्वतोभद्र भ्रमणं यदि सर्वतः ॥८०॥

अर्थ—यदि श्लोक का आधे मार्ग से प्रतिकूलता से भ्रमण होता है व एक चरण की उपस्थिति हो जाती है उसे अर्द्धभ्रम नामक चित्रालकार कहते हैं। पर यदि जिनमें चारो ओर अनुकूल तथा प्रतिकूल चरणो का भ्रमण हो जाय उसे सर्वतोभद्र स्वीकार किया गया है।

म	नो	भ	व	त	वा	नी	कं
नो	द	या	य	न	मा	नि	नी
भ	या	द	मे	या	मा	मा	वा
व	य	मे	नो	म	या	न	त
त	न	या	म	नो	मे	य	व
वा	मा	मा	या	मे	द	या	भ
नी	न	गा	न	य	या	द	नो
क	नी	वा	त	व	भ	नो	म

॥ अर्धभ्रम ॥ श्लोक न० ८१

अर्थ—हे कामी पुरुष के द्वारा नमस्कार किये हुए कामदेव! तेरी सैन्य-भूता यह मानवती नायिका तेरे अभ्युदय के लिए ऐसी बात नही अपितु उदय के लिए ही है। हम लोग अपराधी पापमय भी नही हैं पर फिर भी मानिनी रूपी सेना के भय से अपरिमित पीडा से व्यथित हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण अर्धभ्रम का है, जिसमें अक्षरो का आधे मार्ग से उलटकर प्रतिकूल भ्रमण होता है।

यत मनोभवतवानीक' जोकि प्रथम पक्ति का प्रथमार्द्ध है पुन तीनो दिशाओ में उल्टे रूप में बन जाता है यदि आठ पक्तियो में लिखा जाय।

सा	मा	या	मा	मा	या	मा	सा
मा	रा	ना	या	य	ना	रा	मा
या	ना	वा	रा	रा	वा	ना	या
ना	या	रा	मा	मा	रा	या	मा
मा	या	रा	मा	मा	रा	या	मा
या	ना	वा	रा	रा	वा	ना	या
मा	रा	ना	या	या	ना	रा	मा
सा	मा	या	मा	मा	या	मा	सा

॥ सर्वतोभद्र ॥ श्लोक न० ८२

अर्थ—वह जो प्रभूत विरह-ज्वर के द्वारा सन्तप्त करनेवाली है, जो लक्ष्मी के समान सुन्दर है, कामदेव का उत्पादन-रूप जिसका आगमन होता है और जिनके पैरो पर आवेष्टित नूपुरो की मजुल ध्वनि ही कामीजनो के लिए जाल के समान है वह अति विचित्र मनोहररूपवाली रमणी चन्द्र-निशा के साथ-साथ मेरे नाश के लिए है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण सर्वतोभद्र का है क्योंकि इसमें प्रत्येक पंक्ति के आधे भाग के अक्षर प्रतिकूल क्रम से पुनः बन जाते हैं। श्लोक को आठ पंक्तियां बनाने पर प्रत्येक पंक्ति चारो तरफ से बनती है। अतः यह सर्वतोभद्र है। यहां पर चारो ओर से अक्षरो के घूमने पर भी वैसा का वैसा ही श्लोक बना रहता है।

[स्वर-स्थान-वर्ण-नियम]

य. स्वरस्थानवर्णाना नियमो दुष्करेष्वसौ ।
इष्टश्चतु·प्रभृत्येष दर्श्यंते सुकरः पर ॥८३॥

अर्थ—स्वर अकारादि, स्थान कठ आदि तथा वर्णों—व्यजन आदि का जो नियम है इस प्रकार के स्वरूपवाला अलकार कठिन अलकारो के मध्य में स्वीकार किया है अर्थात् चित्रालकारो के अन्तर्गत माना है । इनमें चार वर्णों तक का नियम दिखाया जाता है, अन्य तो सरल हैं ।

आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरीती. प्रीतीर्भीती ।
भोगो रोगो मोदो मोहो ध्येयेवेच्छेद्देशे क्षेमे ॥८४॥

अर्थ—वेदो के अन्तिम भाग उपनिषद् गीतो को उप्लव, प्रेम को भय-स्वरूप, विषयभोग को रोग तथा विषय के आनन्द को मोह बतलाते हैं । इस कारण पुण्य-प्रदेश में परमात्मा का चिन्तन करे ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'आ ई ओ ए' इन चार ही दीर्घ स्वरो का प्रयोग किया गया है ।

क्षितिविजितिस्थितिविहितिव्रतरतय: परमतय. ।
उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरव स्वमरिकुलम् ॥८५॥

अर्थ—पृथ्वी की विजय तथा मर्यादा के विधान के व्रत में रत तथा उत्कृष्ट बुद्धिवाले पाण्डवो ने युद्ध में अपने विशाल शत्रुकुल को पूर्णरूप से घेरकर प्रकम्पित कर दिया ।

टिप्पणी—यहाँ पर 'अ इ उ' इन तीन स्वरो के नियम से प्रस्तुत पद्य का निर्माण किया गया है ।

श्रीदीप्ती ह्रीकीर्ती धीनीती गी.प्रीती ।
एधेते द्वे द्वे ते ये नेमे देवेशे ॥८६॥

अर्थ—लक्ष्मी, कान्ति, लज्जा, यश, बुद्धि, नीति, वाणी तथा प्रीति ये गुण दो-दो करके आप में वृद्धि को प्राप्त कर रहे हैं जो इन्द्र में भी नही हैं ।

टिप्पणी—इसमें दो 'ई, ए' स्वरो का प्रयोग किया गया है । इन दो स्वरो की सहायता से इस पद्य का निर्माण हुआ है ।

सामायामामाया मासा मारानायायाना रामा ।
यानावारारावानाया माया रामा मारायामा ॥८७॥

अर्थ—वह जो प्रभूत विरह-ज्वर के द्वारा सन्तप्त करनेवाली है, जो लक्ष्मी के समान सुन्दर है, कामदेव का उत्पादन-रूप जिसका आगमन होता है और जिसके पैरो पर आवेष्टित नूपुरो की मजुल ध्वनि ही कामीजनो के लिए जाल के समान है, वह अति विचित्र मनोहर रूपवाली रमणी चन्द्र-निशा के साथ-साथ मेरे विनाश के लिए है।

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक में केवल एक दीर्घ स्वर 'आ' का ही प्रयोग किया गया है।

नयनानन्दजनने नक्षत्रगणशालिनि ! ।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने ! दीयता सकृत् ॥८८॥

अर्थ—हे सुन्दरी ! नेत्रो को आनन्द देनेवाले दृष्टिमोहक तथा नक्षत्र-समूह से भूषित मेघशून्य आकाश को एक वार देखो।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में ओष्ठ्य स्थान से भिन्न स्थान वाले चार अन्य स्थानीय वर्णो का सन्निवेश किया गया है।

अलिनीलालकलत कं न हन्ति घनस्तनि ! ।
आनन नलिनच्छायनयन शशिकान्ति ते ॥८९॥

अर्थ—हे पीनपयोवरे ! भौंरो के समान काले तथा लता जैसे लम्वे वाल, कमल की शोभा के समान नेत्र तथा चन्द्रमा की कान्ति के समान तुम्हारा मुख किसको व्याकुल नही करता ?

टिप्पणी—इस उदाहरण में कण्ठ्य, दन्त्य तथा तालव्य इन तीन स्थानो के वर्णो का प्रयोग किया गया है।

अनङ्गलङ्गनालग्ननानातङ्का सदङ्गना ।
सदानघ ! सदानन्दनताङ्गासङ्गसङ्गत ॥९०॥

अर्थ—हे सर्वदा पापरहित, तुम सच्चरित्रा, सज्जनों को आनन्द देने-वाली, नम्रतायुक्त अगोवाली, साध्वी स्त्री तथा विषयो में जो अनासक्त है, उनका ससर्ग करनेवाली हो तथा काम से प्राप्त हुई विविध पीडाओ

का अतिक्रमण करनेवाली हो।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में कण्ठ्य तथा दन्त्य स्थानीय वर्ण ही प्रयुक्त किये गये है।

अगा गाङ्गाङ्गकाकाकगाहकाघककाकहा ।
अहाहाङ्क खगाङ्कागकङ्कागखगकाकक ॥६१॥

अर्थ—हे सशब्दतिर्यक्गामी तरगो (गगाजल) में स्नान करने वाली ससार के ताप से रहित, उदयाचल पर्वत पर जाने में समर्थ, नश्वर इन्द्रियो के सुख में अनासक्त और पापरूपी कौओ को नष्ट करनेवाले आप स्वर्ग को जाओगे, पृथ्वी की प्रदक्षिणा करोगे।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में केवल कण्ठ्य स्थान से उच्चरित वर्णों का ही प्रयोग किया गया है।

रे रे रोरूरुरोरुगागोगोऽगाङ्गगोऽगगु ।
किं केकाकाकुक काको मामा मामम मामम ॥६२॥

अर्थ—अरे अपने घृणित कार्य से सत्पुरुषो को दु ख देनेवाले, शब्द करनेवाले रुरु, चित्र मृग के वक्षस्थल पर चोट करने का अपराध करने वाले तथा पर्वत के ऊपर स्थित वृक्षो के नीचे रहने वाली गायो वाले मेरे पास मत आ। कौआ क्या मयूर की मदसूचक ध्वनि कर सकता है ?

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक का 'र ग, क, म' इन चार व्यञ्जनो से ही निर्माण किया गया है। यहाँ पर चार व्यजनो के अन्तर्गत पद्यपूरक वर्णों का ही ग्रहण किया गया है।

देवाना नन्दनो देवो नोदनो वेदनिन्दिन ।
दिव दुदाव नादेन दाने दानवनन्दिन ॥६३॥

अर्थ—देवताओ को आनन्ददायक तथा वेद-निन्दको के निवारक नृसिह भगवान् ने हिरण्यकशिपु (दानवो के आनन्ददायी) की छाती को विदीर्ण करके सिंहनाद के द्वारा अन्तरिक्ष को सन्तापित कर दिया।

टिप्पणी—इस उदाहरण में 'द, व, न,' केवल तीन वर्णों का ही प्रयोग किया गया है।

सूरि सुरासुरासारिसार सारससारसा ।
ससार सरसी सीरी ससूरू. स सुरारसी ॥६४॥

अर्थ—वह विद्वान् देव तथा दानवो पर अप्रतिहत प्रभाववाले, मदिरा-प्रिय बलदेवजी शोभन जघाओवाली अपनी स्त्री रेवती के साथ सशब्द सारस पक्षियो से युक्त तडाग (तालाव) में जलक्रीडा के लिए उतरे ।

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक में 'स तथा र' इन दो व्यजन वर्णों का प्रयोग किया गया है ।

नून नुन्नानि नानेन नाननेनाननानि नः ।
नाऽनेना ननु नाऽनूनेनैनेनानानिनो निनी ॥६५॥

अर्थ—इस वीर ने अपने सामर्थ्य से हमारे सामर्थ्यो को परिक्षिप्त नही किया है यह नही, अर्थात् हमें निश्चय ही सामर्थ्यशून्य कर दिया है। इस वीर के सामने अपने वलवान् पुरुषो को ले जाने की इच्छावाला हमारा स्वामी निरपराधी नही अर्थात् अपराधी है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में केवल एक नकार का ही प्रयोग किया गया है ।

(प्रहेलिका)

इति दुष्करमार्गेऽपि कश्चिदादर्शित क्रम ।
प्रहेलिकाप्रकाराणा पुनरुद्दिश्यते गतिः ॥६६॥

अर्थ—इस प्रकार से कठिन पद्यबन्ध के मार्ग में भी कुछ क्रमश. नियम प्रदर्शित किये गये । अब प्रहेलिका के भेदो के लक्षण निरूपण किये जायेंगे ।

टिप्पणी—प्रहेलिका किसको कहते हैं इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है

"प्रहेलिका तु सा ज्ञेया वच सवृतिकारि यत् ।"

अर्थात् जो रहस्यमय गोपन करनेवाला वचन होता है उसे प्रहेलिका कहते हैं । यहां पर प्रहेलिका का सामान्य-सा लक्षण दिया गया है ।

क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥६७॥

अर्थ—क्रीडा-गोष्ठियो के प्रमोद में, प्रहेलिका जाननेवालो से युक्त स्थान में परस्पर मन्त्रणा करने में तथा दूसरो को भुलावा देने में अभिप्रेत अर्थ का दूसरो की समझ में न आने में प्रहेलिकाओ का उपयोग होता है। ऐसे स्थलो पर प्रहेलिकाएँ उपयोग-युक्त होती हैं।

टिप्पणी—ऐसे स्थानो पर प्रहेलिका की अलकारिता ग्राह्य है, अन्य स्थानो पर सदोष है।

आहु समागता नाम गूढार्थां पदसन्धिना।
वञ्चितान्यत्र रूढेन यत्र शब्देन वञ्चना ॥९८॥

अर्थ—पदो की सन्धि के कारण गूढ (दुर्बोध) अर्थयुक्त प्रहेलिका को समागता कहते हैं। जहाँ प्रकृत रूढ शब्द के अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण करके प्रवचना की जाती है, वहाँ वचिता प्रहेलिका होती है।

व्युत्क्रान्तातिव्यवहितप्रयोगान्मोहकारिणी ।
सा स्यात् प्रमुषिता यस्यां दुर्बोधार्था पदावली ॥९९॥

अर्थ—अत्यन्त व्यवधान पर रक्खे जानेवाले शब्दो के प्रयोग के कारण भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली को व्युत्क्रान्ता प्रहेलिका कहते है। दुर्बोध अर्थवाली पदावली से युक्त प्रमुषिता प्रहेलिका कहलाती है।

समानरूपा गौणार्थारोपितैर्ग्रथिता पदै' ।
परुषा लक्षणास्तित्वमात्रव्युत्पादितश्रुति. ॥१००॥

अर्थ—गौण (लाक्षणिक) अर्थों के आरोप के द्वारा जहाँ पदो की रचना की गई हो वहाँ समानरूपा होती है। जहाँ लक्षण (सूत्र, शास्त्र) के अस्तित्व-मात्र के अनुसार शब्द की व्युत्पत्ति कर ली जाती है वहाँ परुषा प्रहेलिका होती है।

सख्याता नाम सख्यान यत्र व्यामोहकारणम्।
अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थ· सा प्रकल्पिता ॥१०१॥

अर्थ—जहाँ वर्णों की गणना (सख्यावाचक शब्द) अर्थबोध के विषय में विशेष मोह का कारण हो वह सख्याता प्रहेलिका है। जहाँ वाक्य का अर्थ ऊपर से प्रतीयमान अर्थ से भिन्न प्रतीत होता है वहाँ प्रकल्पिता

प्रहेलिका होती है।

सा नामान्तरिता यस्या नाम्नि नानार्थकल्पना।

निभृता निभृतान्यार्था तुल्यधर्मस्पृशा गिरा ॥१०२॥

अर्थ—शब्दो की अनेकार्थता के कारण जिस सज्ञा में अनेक अर्थों की कल्पना की जाय वह नामान्तरिता प्रहेलिका होती है। जहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत के साधारण धर्म का प्रतिपादन करनेवाली वाणी प्रकृत अर्थ गोपन करके अन्य अर्थ प्रकट करे वहाँ निभृता प्रहेलिका होती है।

समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता।

सम्मूढा नाम या साक्षान्निर्दिष्टार्थापि मूढये ॥१०३॥

अर्थ—प्रयुक्त शब्दो के स्थान पर पर्यायवाची शब्दो से निष्पन्न अर्थ-प्रतीति को समानशब्दा प्रहेलिका कहते हैं। साक्षात् वाचक शब्द के द्वारा अर्थ का निर्देश किये जाने पर भी ऊपर के अर्थ की प्रतीति के कारण जो व्यामोह की उत्पादिका होती है वह सम्मूढा प्रहेलिका कहलाती है।

योगमालात्मिका नाम या स्यात् सा परिहारिका।

एकच्छन्नाश्रित व्यक्त यस्यामाश्रयगोपनम् ॥१०४॥

अर्थ—यौगिक शब्दो की परम्परा से युक्त स्वरूपवाली रचना को परिहारिका प्रहेलिका कहते हैं। जिसमें आधेय की अभिव्यक्ति पर ही आधार का गोपन हो वह एकच्छन्ना प्रहेलिका कहलाती है।

सा भवेदुभयच्छन्ना यस्यामुभयगोपनम्।

सङ्कीर्णा नाम सा यस्या नानालक्षणसङ्कर ॥१०५॥

अर्थ—वह उभयच्छन्ना प्रहेलिका होती है जिनमें दोनो आधेय, आधार का गोपन होता है। सकीर्णा प्रहेलिका वह है जिसमें अनेक लक्षणवाली प्रहेलिकाओ का सम्मिश्रण हो।

एता· षोडश निर्दिष्टा पूर्वाचार्यै. प्रहेलिका·।

दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश ॥१०६॥

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने इन सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं का निर्देश किया है। उन्होंने चौदह अन्य शुद्ध से भिन्न दुष्ट प्रहेलिकाओ का भी

कथन किया है।

टिप्पणी—दुष्ट प्रहेलिकाओ के अन्तर्गत च्युताक्षरादि प्रहेलिकाओ का कथन है।

दोषानपरिसङ्ख्येयान् मन्यमाना वय पुन. ।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणा ॥१०७॥

अर्थ—हम अपरिमित सख्या से युक्त दोषो को मानते हुए केवल दोषहीन प्रहेलिकाओ के ही उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। समागता आदि प्रहेलिकाओ के लक्षणो से जो रहित होगी उन्हें दुष्ट मानना चाहिए।

न मया गोरसाभिज्ञ चेत कस्मात् प्रकुप्यसि।
अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहितेक्षणे ! ॥१०८॥

अर्थ—हे आरक्तनयनी ! मैंने गोदुग्ध के रसास्वाद के प्रति अपना चित्त नही प्रेरित किया, मेरा चित्त अन्य नायिका के सहवासजन्य प्रमोद का अपराधी नही है अत तुम क्यो कुपित होती हो ? अकारण रोने से सवरण करो।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण समागता प्रहेलिका का है। यहाँ पर 'मे आगोरसाभिज्ञ' में सन्धि होने के कारण दो अर्थ हो गये।

कुब्जामासेवमानस्य यथा ते वर्द्धते रति।
नैव निर्विशतो नारीरमरस्त्रीविडम्बिनी ॥१०९॥

अर्थ—कुब्जा (कान्यकुब्ज की) स्त्री के साथ सम्भोग करने से जैसा आपका अनुराग बढता है वैसा सुरागनाओ के सहवास से नही होता।

टिप्पणी—इस वचिता प्रहेलिका के उदाहरण में कुब्जा के प्रति प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण न करके वचना की गई है।

दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हस. कर्कशकण्टके।
मुख वल्गुरव कुर्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन् ॥११०॥

अर्थ—कठोर कॉटो से युक्त पद्मनाल से अगो को रगडता हुआ तथा मधुर स्वर करता हुआ हस अपनी चोच से (पद्मिनी के) कमलरूप मुख को चूमता है।

टिप्पणी—यहाँ पर शब्द के दूर पर रखे जाने के कारण अन्वय-बोध में असुविधा होती है।

खातय कनि ! काले ते स्फातयः स्फाहंवलगव ।
चन्द्रे साक्षाद्भुवन्त्यत्र वायवो मम धारिण ॥१११॥

अर्थ—हे कुमारी, तुम्हारे चरणों के नूपुर आदि अलकार निरन्तर गमन के कारण अत्यन्त शब्द कर रहे है। चन्द्र के समान आह्लादक तेरे पैरो में मेरे प्राण स्थिर हो रहे है।

टिप्पणी—यह प्रमुषिता प्रहेलिका का उदाहरण है जिसमें दुर्बोध शब्दो का प्रयोग किया गया है।

अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरी पञ्चपल्लवा ।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा यस्या कुसुममञ्जरी ॥११२॥

अर्थ—इस उपवन में मैने पाँच पल्लवों से युक्त (पाँच अँगुलियो से युक्त) वेल (वाहु) को देखा जिनके पत्ते-पत्ते (उँगली-उँगली) में लाल कुसुम-मजरी (नाखून) लगे है।

टिप्पणी—इस समानरूपा प्रहेलिका में पदो के गौण अर्थ का आरोप किया गया है।

सुरा सुरालये स्वैर भ्रमन्ति दशनार्चिषा ।
मज्जन्त इव मत्तास्ते सौरे सरसि सम्प्रति ॥११३॥

अर्थ—मधुर शब्द करते हुए या मदिरा बनानेवाले (देवता लोग) मदिरागृह (देवस्थान) में विकट हास्य के द्वारा दाँतो की कान्ति दिखाते हुए इस समय मदिरामय-सरोवर (मानस—सरोवर) में डूबते हुए के समान मस्त होकर स्वच्छन्द घूम रहे हैं।

टिप्पणी—इस परुषा प्रहेलिका में सुरा आदि ध्वनियो का कुछ दूसरा ही अर्थ लगा लिया गया है।

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपा ॥११४॥

अर्थ—ऐसी कोई नगरी है जिसके मध्य में अनुनासिक वर्ण है तथा

चारो ओर से चार वर्णों से विभूषित है तथा जिसके आठ वर्णों से युक्त नाम वाले राजा हैं।

टिप्पणी—इस संख्याता प्रहेलिका में चार तथा आठ की संख्या द्वारा प्रकृत अर्थ का गोपन किया गया है।

यहाँ पर 'काञ्ची' इस शब्द के मध्य में ञ् आता है। ञ् के एक तरफ क्, आ तथा दूसरी तरफ च्, ई ये वर्ण हैं। 'पल्लवा' नामक राजा है जिसमें आठ वर्ण हैं।

गिरा स्खलन्त्या नम्रेण शिरसा दीनया दृशा।
तिष्ठन्तमपि सोत्कम्पं वृद्धे मां नानुकम्पसे ॥११५॥

अर्थ—हे वार्द्धक्य! (हे लक्ष्मी!) लडखडाती वाणी, नीचे झुके हुए सिर, दीन दृष्टि तथा खडे हुए कम्पायमान शरीरवाले मुझपर कृपा नही करते (करती)?

टिप्पणी—यहाँ पर प्रकल्पिता प्रहेलिका में प्रतीयमान अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण किया गया है।

आदौ राजेत्यधीराक्षि! पार्थिव कोऽपि गीयते।
सनातनश्च नैवासौ राजा नापि सनातन ॥११६॥

अर्थ—हे चचलनयनी! कोई पृथ्वी से सम्बन्ध रखनेवाला है जिसके आदि में राजा शब्द है और वह शरीर-रहित भी नही है, यह कहा जाता है। पर वह राजा भी नही है और शरीर-रहित भी नही है।

टिप्पणी—इस नामान्तरिता प्रहेलिका में 'राजातन' यह सज्ञा अनेकार्थक है। राजातन एक वृक्ष का नाम है जो पृथ्वी से सम्बन्धित है। इसके आदि में राजा शब्द आता है तथा शरीर-विहीन भी नही है।

हृतद्रव्यं नर त्यक्त्वा धनवन्त व्रजन्ति का·।
नानाभङ्गिसमाकृष्टलोका वेश्या न दुर्धराः ॥११७॥

अर्थ—नाना प्रकार की भाव-भगिमाओ (तरगो) के द्वारा सब लोगो को आकृष्ट करती है, दु ख से रोकी जाती हुई (पर्वत से कष्ट से निकली हुई) धन-रहित (वेग के कारण वह गये है द्रव्य आदि जिसके ऐसे) मनुष्य

(पर्वत) को छोडकर जो घनवान (समुद्र) के पास चली जाती है वह कौन है ? वह वेश्या नहीं है।

टिप्पणी—यहां पर तुल्य विशेषणों की प्रतीति तो है पर वाचक शब्दों के कथन करने से यहां निभृता प्रहेलिका है।

जितप्रकृष्टकेशाख्यो यस्तवाभूमिसाह्वयः ।
स मामद्य प्रभूतोत्कं करोति कलभाषिणि ! ॥११८॥

अर्थ—हे मधुरभाषिणी ! जिसने प्रवाल को जीत लिया ऐसी प्रकृष्टकेश नामा तथा अभूमि (अधर) नाम से युक्त तेरा इस प्रकार का वह ओठ आज मुझे अत्यन्त उत्सुक करता है।

टिप्पणी—इस उदाहरण में 'प्रकृष्टकेश' पद से 'प्रवाल' तथा 'अभूमि' पद से 'अधर' का बोध कराया गया है। यहाँ पर प्रकृति की समान शब्द के द्वारा उपस्थिति होने से यह समानशब्दा प्रहेलिका है।

शयनीये परावृत्य शयितौ कामिनौ क्रुधा ।
तथैव शयितौ रागात् स्वैरं मुखचुम्बताम् ॥११९॥

अर्थ—दो प्रेमियों के क्रोध के कारण शय्या पर मुख फेरकर सोने पर, राग के कारण उसी प्रकार अर्थात् मुख आमने-सामने होने पर सोते हुए स्वच्छन्दता से मुख-चुम्बन करते रहे।

टिप्पणी—यहाँ पर क्रोध से करवट बदल लेने पर मुख चुम्बन-क्रिया का होना असम्भव है पर पुनः उसी प्रकार शयन करके इस क्रिया का सम्भव होना यहाँ पर अभीप्सित है। ऊपर से यह श्रोताओं को मोह (भ्रम) में डालने के कारण सम्मूढा प्रहेलिका है।

विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः ।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥१२०॥

अर्थ—गरुड के द्वारा जीते गये इन्द्र के पुत्र अर्जुन के शत्रु कर्ण के गुरु सूर्य की किरणों से सन्तप्त मनुष्य शीत के नाशक अग्नि के शत्रु जल को धारण करनेवाले मेघों से व्याप्त आकाश का अभिनन्दन करते हैं।

टिप्पणी—यहाँ यौगिक शब्द-परम्परा के द्वारा प्रकृत अर्थ को उद्भा-

वना होने से यह परिहारिका प्रहेलिका है।

न स्पृशत्यायुध जातु न स्त्रीणा स्तनमण्डलम्।
अमनुष्यस्य कस्यापि हस्तोऽय न किलाफल ॥१२१॥

अर्थ—जो न कभी अस्त्र को और न स्त्रियो के स्तन-मण्डल को स्पर्श करता है वैसा यह किसी अमनुष्य (गधर्व) का हाथ है जो निश्चय से फल रहित नही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में आधेय-रूप फल की स्पष्ट अभिव्यक्ति है, पर आधार-रूप वृक्ष गुप्त है अत यह एकच्छन्न प्रहेलिका है। यहाँ पर अमनुष्य से तात्पर्य गन्धर्व है और गन्धर्व-हस्त से तात्पर्य एरडवृक्ष है जिसमें फल लगते हैं।

केन क सह सम्भूय सर्वकार्येषु सन्निधिम्।
लब्ध्वा भोजनकाले तु यदि दृष्टो निरस्यते ॥१२२॥

अर्थ—कौन (केश) किसके मस्तक के साथ मिलकर सब कार्यों में सम्पर्क प्राप्त करके भी भोजन के समय-मात्र में दिखाई पडता है तो निकालकर बाहर कर दिया जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में आश्रय तथा आश्रित दोनो के प्रच्छन्न होने से यह उभय प्रहेलिका है।

सहया सगजा सेना सभटेय न चेज्जिता।
अमात्रिकोऽय मूढ स्यादक्षरज्ञश्च न सुत. ॥१२३॥

अर्थ—यदि यह सेना (वर्णमाला) घोडो से युक्त (हकार, यकार) हाथियो सहित (गकार-जकार-युक्त) तथा योद्धाओ सहित (भकार-टकार युक्त) नही जीती गई तब यह हमारा पुत्र धन-मर्यादा (मात्रा-ज्ञान) से रहित और अक्षरो को रट लेनेवाला मूढ रह जायगा।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में सकीर्ण प्रहेलिका है क्योकि यहाँ कई प्रहेलिकाओ का मिश्रण है।

सा नामान्तरितामिश्रा वञ्चितारूपयोगिनी।
एवमेवेतरासामप्युन्नेय सङ्करक्रम ॥१२४॥

अर्थ—वह पूर्वोक्ता प्रहेलिका नामातरिता तथा वचिता के स्वरूप के योग से युक्त जाननी चाहिए। इसी प्रकार अन्य प्रहेलिकाओ का भी परस्पर सम्मिश्रण जानना चाहिए।

इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शित· ।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः ॥

अर्थ—इस प्रकार यह दुर्बोध प्रहेलिका-मार्ग प्रदर्शित कर दिया गया है। विद्वानो के प्रयोगों से प्रश्नोत्तर आदि जानने चाहिए।

विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकरदुष्करमार्गमवैति हि।
न हि तदन्यनयेऽपि कृतश्रम· प्रभुरिम नयमेतुमिद विना॥

अर्थ—इस सुमार्ग से बुद्धि विशद होती है तथा सुगम और दुर्गम मार्ग का ज्ञान होता है । इसके जाने विना दूसरो में परिश्रम करने पर भी कोई इसका ज्ञाता नहीं हो सकना।

नोट—इस समय काव्यादर्श के कई सस्करण प्राप्त हैं। कुछ में उपरिलिखित ये दो श्लोक उपलब्ध नही होते पर कुछ में उपलब्ध होते हैं। अत. हमने यहाँ पर विना क्रम-सख्या दिये दोनो श्लोक अर्थ-सहित उद्धृत कर दिये है।

[काव्यगत दोषों का वर्णन]

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्ट भिन्नवृत्तं विसन्धिकम् ॥१२५॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्या काव्येषु सूरिभि· ॥१२६॥

अर्थ—निरर्थक, विरुद्धार्थक, अभिन्नार्थक, संशययुक्त, क्रमरहित, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट विच्छेदरहित, असमवृत्त, सन्धिरहित ॥१२५॥

स्थान, समय, कला, लोक, न्याय तथा आगम का विरोधी—इन दस दोषों का विद्वानो को काव्य में त्याग करना चाहिए ॥१२६॥

टिप्पणी—सस्कृत-साहित्य-शास्त्र में प्रारम्भ से ही दोषों का विशद वर्णन मिलता है। काव्य-शास्त्र की परम्परा के निरीक्षण से स्पष्ट हो

जाता है कि प्रारम्भ से ही आचार्यों द्वारा दोषो पर बहुत ज्यादा ध्यान दिया गया। क्योकि काव्य का दोष-विहीन होना सबसे प्रथम तथा आवश्यक मापदण्ड है। दोषरहितता अपने-आपमें एक महान् गुण है—'महान् निर्दोषिता गुण।'

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद के ७वें श्लोक में आचार्य दण्डी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में दोष का प्रबल प्रतिवाद करते हुए कहा है कि "काव्य में अत्यन्त अल्प दोष की भी किसी प्रकार उपेक्षा नही करनी चाहिए क्योकि अत्यन्त मनोहर शरीर भी केवल एक श्वेत कुष्ट के चिह्न से ही सौभाग्य-विहीन हो जाता है।"

आचार्य दण्डी के बाद पूर्वध्वनिकाल तथा उत्तरध्वनि-काल के आचार्यों ने भी काव्य में निर्दोषिता को सर्वप्रमुख स्थान दिया।

दण्डी से पूर्व भी दोषो का विवेचन हुआ था। भरत ने ये १० दोष गिनाये हैं—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थविहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिलुप्तार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दहीन।

भामह ने तीन प्रकार के दोष माने हैं—१ सामान्य दोष, २. वाणी के दोष, ३ अन्य दोष।

(१) सामान्यदोष के अन्तर्गत नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमन् और गूढशब्द ये ६ आते हैं।

(२) वाणी के दोषो में श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट ये ४ आते हैं।

(३) अन्य दोष ११ हैं जो इस प्रकार है

अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशकालकलालोकन्यागम-विरोधी, प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त-हीन।

भामह का यह दोष-विवेचन अत्यन्त पुष्ट था जिससे प्रभावित होकर दडी ने उनके अन्य दोषो को 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीन' को छोडकर अपना लिया। भामह तथा दडी दोनो ने ही अपने दोष-विवेचन में भरत से पर्याप्त सहायता ली है।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ ।
विचार. कर्कश प्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ॥१२७॥

अर्थ—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त–इनका अभाव काव्य में सदोष है अथवा नहीं, यह विचार प्राय. कठिन है। इन विचार पर पिष्टपेषण करने से क्या फल है?

टिप्पणी—यहां पर प्रतिज्ञा से यह अभिप्राय है कि जिन आदर्श को अथवा उद्देश्य को सामने रखकर ग्रंथ का प्रणयन किया जाय उसे अत तक निभाया जाय।

समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते ।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥१२८॥

अर्थ—जो समुदाय-रूप में एक अर्थ से रहित है वह अपार्थ, (निरर्थक) अर्थ-रहित कहलाता है।(उन्मत्त)मत्त तथा बालकों की (उक्तियां) बातों को छोड़कर अन्यत्र यह दोष होता है।

समुद्र. पीयते देवैरहमस्मि जरातुर ।
अमी गर्जन्ति जीमूता हरेरैरावण. प्रिय ॥१२९॥

अर्थ—देवताओं द्वारा समुद्र का पान किया जा रहा है। मैं वृद्ध हो गया हूं। ये मेघ गरज रहे हैं। इन्द्र को ऐरावत प्रिय है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में चारो वाक्यो में समुदाय-रूप में एकार्थता का अभाव है, अत यह अपार्थ-दोष है।

इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम् ।
इतरत्र कवि को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम् ॥१३०॥

अर्थ—उन्मादियो (अस्वस्थ चित्त वालों)का यह दोष-रहित (अनिन्दित) कथन है। इनके अलावा कौन कवि ऐसा होगा जो इस प्रकार के प्रयोग करेगा?

एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम् ।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥१३१॥

अर्थ—एक वाक्य में अथवा प्रबन्ध (वाक्यसमूह) में विपरीत अर्थ

के कारण आदि तथा अन्त के भाग सगति-रहित हो तो यह काव्य व्यर्थ (विरुद्धार्थक) दोषो के अन्तर्गत गिना जाता है।

जहि शत्रुबल कृत्स्न जय विश्वम्भरामिमाम् ।
तव नैकोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिन ॥१३२।

अर्थ—सम्पूर्ण शत्रु-सेना का विनाश करो, इस पृथ्वी को जीतो। सब प्राणियो पर दया करने वाले आपका कोई भी शत्रु नही है।

टिप्पणी—यहाँ पूर्व तथा पर के वाक्यो में विरुद्धार्थकता स्पष्टतया प्रतीत होती है।

अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतस ।
यस्या भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥१३३॥

अर्थ—दु ख आदि से अभिभूत चित्त की वह (विवेकशून्य) अवस्था होती है जिसमें (वक्ता की) विरोधी-अर्थ-युक्त वाणी भी (मतानुकूल-तया) समादृत अथवा स्वीकृत होती है।

परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते ।
पिबामि तरलं तस्या कदा नु दशनच्छदम् ॥१३४॥

अर्थ—मुझ सज्जन पुरुष के लिए परस्त्री की अभिलाषा किस प्रकार उपयुक्त है ! कब उस (परस्त्री) के (लज्जा, कप आदि के द्वारा) चचल होठो का पान करूँगा।

टिप्पणी—यद्यपि इस उदाहरण में शान्त व शृङ्गार के व्यभिचारी भावो में विरुद्धता लक्षित होती है पर फिर भी शृगार का पोपक तथा चमत्कारी होने से गुण हा है, दोप नही।

अविशेषेण पूर्वोक्त यदि भूयोऽपि कीर्त्यते ।
अर्थत शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा ॥१३५॥

अर्थ—यदि पूर्वकथित वचन की शब्द या अर्थ से विशेषता-रहित पुनरावृत्ति की जाय तो वह एकार्थ-अभिन्नार्थक-दोष कहा जाता है। जैसे—

उत्कामुन्मनयन्त्येते वाला तदलकत्विष ।

अर्थ—उसके वालो के समान कान्तिवाले ये बादल सौदामिनी-सहित गम्भीर तथा गर्जना करते हुए विरहोत्कण्ठा से युक्त वाला को उन्मन कर रहे हैं ।

टिप्पणी—इस उदाहरण में गम्भीरा, स्तनयित्नव, उत्का, उन्मनयन्ति आदि शब्द एकार्थता के कारण पुनरावृत्ति-मात्र प्रतीत होते हैं। अत यहां अभिन्नार्थक दोष है ।

अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते ।
न दोष. पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्क्रिया ॥१३७॥

अर्थ—यदि कोई दया आदि के अतिशयोक्तियुक्त वर्णन की इच्छा करे तो उसकी पुनरुक्ति में भी दोप नहीं होता प्रत्युत यह शोभा विधायक गुण ही होता है ।

टिप्पणी—दर्पणकार ने विस्तारपूर्वक कुछ भाव गिनाये हैं जिनमें पुनरुक्ति दोष न होकर गुण ही समझा जाता है ।

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा ।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मधुभाषिणी ॥१३८॥

अर्थ—वह सुन्दरी निष्कारण वैरी कामदेव के द्वारा पीडित की जाती है । वह मनोहर अगोवाली पीडित की जाती है, वह मधुरभाषिणी पीडित की जाती है ।

टिप्पणी—विश्वनाथ आदि आचार्यों के मत में यह दोप-रहित है ।

निर्णयार्थं प्रयुक्तानि सशय जनयन्ति चेत् ।
वचासि दोष एवासौ ससशय इति स्मृत. ॥१३९॥

अर्थ—निश्चय अर्थ जानने के लिए प्रयुक्त वचन ही यदि सशय पैदा करें तो ऐसे वाक्य 'ससशय' दोपयुक्त कहे जाते हैं ।

मनोरथप्रियालोकरसलोलेक्षणे ! सखि ! ।
आराद्वृत्तिरसौ माता न क्षमा द्रष्टुमीदृशम् ॥१४०॥

अर्थ—अभीप्सित प्रिय के दर्शन से समुद्भूत आवेश से चचल नेत्रोवाली हे सखी ! तेरी माता (समीप) दूर स्थित है । वह यह नही देख (क्षमा

कर) सकती ।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में प्रयुक्त आरात् शब्द तथा अन्तिम वाक्य ये दोनो सशयोत्पादक है ।

ईदृश सशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ।
स्यादलङ्कार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥१४१॥

अर्थ—यदि इस प्रकार का वाक्य कदाचित् सशय के उत्पादन के उद्देश्य से ही प्रयुक्त किया जाता है तब यही सशय अलकार होगा, वहाँ दोष नही होगा, तो उसका प्रयोग इस प्रकार होगा ।

पश्याम्यनङ्गजातङ्कलङ्घिता तामनिन्दिताम् ।
कालेनैव कठोरेण ग्रस्ता किं नस्त्वदाशया ॥१४२॥

अर्थ—उस अनिन्द्य सुन्दरी को जो अनग (कामदेव, मानसिक अशारीरिक) से उत्पन्न पीडा से आक्रान्त तथा कठोर काल (ग्रीष्मऋतु, यमदेव) से ही ग्रस्त है, देखती हूँ । अब हम तुमसे क्या आशा करें ?

टिप्पणी—यहाँ पर दूती के इस प्रकार के कथन से नायक को सशयोत्पत्ति होती है जो चमत्कारिणी होने के कारण गुणयुक्त है ।

कामार्त्ता घर्मतप्ता वेत्यनिश्चयकर वच ।
युवानमाकुलीकर्तुमिति दूत्याह नर्मणा ॥१४३॥

अर्थ—दूती ने युवक (नायक) को व्याकुल करने के लिए भावभगिमा (विनोद) के द्वारा, नायिका काम के द्वारा सन्तन्त है अथवा घाम से सन्तप्त है—यह सन्देहसकुल (सशयकारी) वचन कहे ।

उद्देशानुगुणोऽर्थानामनूद्देशो न चेत् कृत ।
अपक्रमाभिधान त दोषमाचक्षते बुधा ॥१४४॥

अर्थ—अर्थों का जिस क्रम से उल्लेख किया गया है यदि उसके अनुकूल पुन उसी क्रम से पदो का अभिधान न किया जाय तो उसको विद्वान् 'अपक्रम' दोष कहते है ।

टिप्पणी—यदि क्रम अलकार होगा तो दोष नही रहेगा ।

स्थितिनिर्माणसहारहेतवो जगताममी ।
शम्भुनारायणाम्भोजयोनय पालयन्तु वः ॥१४५॥

अर्थ—इस प्रकार के स्थितिकर्ता (पालक), निर्माणकर्ता (उत्पत्ति-कर्ता) तथा सहारकर्ता अर्थात् स्थिति, निर्माण तथा सहार के कारणभूत शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा आप लोगो का पालन (रक्षा) करें।

टिप्पणी—इस उदाहरण में क्रम का विपर्यय है। अत क्रम भग होने के कारण यहाँ अपक्रम दोष है। यहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह क्रम होना चाहिए।

यत्न सम्बन्धविज्ञानहेतुकोऽपि कृतो यदि ।
क्रमलङ्घनमप्याहु सूरयो नैव दूषणम् ॥१४६॥

अर्थ—अन्वय के विशिष्ट बोध के लिए ही यदि उस प्रकार के क्रम के उल्लघन का प्रयास किया गया हो तो विद्वान् क्रम-भग होने को भी दोष नही कहते है।

बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु ।
आद्यन्तावायतक्लेशौ मध्यम क्षणिकज्वर ॥१४७॥

अर्थ—बन्धुत्याग, तनुत्याग (शरीरत्याग) तथा देशत्याग—इन तीनो में आदि बन्धुत्याग तथा अन्त देशत्याग दीर्घकाल तक क्लेशदायी होते हैं और मध्य का तनुत्याग अल्प समय तक ही सन्तापकारी होता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में अन्वय के बोध के लिए आदि तथा अन्त को ग्रहण करके मध्य का उल्लघन किया जाना यहाँ दोष नही है।

शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धति. ।
पदप्रयोगोऽशिष्टेष्ट शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥१४८॥

अर्थ—लक्षण तथा उदाहरण के मार्ग (नियम) में अशिष्ट तथा शिष्ट पुरुषो के द्वारा अस्वीकृत पदप्रयोग शब्दहीन कहलाता है पर शिष्ट पुरुषों के द्वारा अभिसम्मत या व्यवहृत प्रयोग सदोष नहीं होता।

अवते भवते बाहुर्महीमर्णवशक्वरीम् ।
महाराजन्नजिज्ञासा नास्तीत्यासां गिरां रस. ॥१४९॥

अर्थ—हे महाराज, आपके बाहु उस पृथ्वी की समुद्र जिसकी मेखला है, रक्षा करते हैं। इसमें कुछ भी जिज्ञासा नही है अर्थात् यह सत्य ही है। इस प्रकार की वाणी में कुछ भी रस नही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'अवति' का 'अवते' 'भवत' का 'भवते' 'अर्णवशक्वरिकाम्' का 'अर्णवशक्वरीम्' तथा 'महाराज' का 'महाराजन्' प्रयोग होने के कारण शब्दहीन दोष है।

दक्षिणाद्रेरुपसरन् मारुतश्चूतपादपान् ।
कुरुते ललिताधूतप्रवालाङ्कुरशोभिन. ॥१५०॥

अर्थ—मलय पर्वत को जाती हुई वायु आम्रवृक्षो को, उनके सुन्दर नवपल्लवयुक्त अकुरो को कम्पित करते हुए शोभायुक्त करती है।

टिप्पणी—यद्यपि इस उदाहरण में शब्दहीन दोष है पर क्योकि शिष्ट-जनो द्वारा व्यवहृत हुआ है अत यहाँ दोष नही होगा। यहाँ पर 'दक्षिणाद्रे' इस स्थान पर द्वितीया होनी चाहिए पर विद्वानो द्वारा षष्टी स्वीकृत होने से यह सदोष नही।

इत्यादिशास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम् ।
अपभाषणवद् भाति न च सौभाग्यमुज्झति ॥१५१॥

अर्थ—'दक्षिणाद्रेरुपसरन्' इत्यादि पद, शास्त्र (व्याकरण-शास्त्र) में साधु शब्द के प्रयोग के फल के रूप में कथित माहात्म्य के दर्शन में मन्दाभियोगयुक्त चित्त वालों (पुरुषो) को अशब्द के समान प्रतीत होते हैं। पर ये भेद अपने लालित्य को नही छोड़ते।

टिप्पणी—साधु शब्द के प्रयोग का माहात्म्य पतजलि ने इस प्रकार कहा है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद्व्यवहारकाले।
सोनन्तमाप्नोति जय परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥
—(व्या० म० भा० १.२ १६)

श्लोकेषु नियतस्थान पदच्छेद यति विदु ।
तदपेत यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजन यथा ॥१५२॥

अर्थ—छन्द शास्त्रज्ञ श्लोको में निरूपित स्थान वाले पद के विराम को यति कहते हैं। उस यति-रहित को 'यतिभ्रष्ट' कहते हैं जो सुनने में भी असुविधाजनक होता है। जैसे—

टिप्पणी—वामन ने यति की बहुत सुन्दर परिभाषा दी है जो इस प्रकार है

'विरसविराम यतिभ्रष्टम्'—अर्थात् रस-रहित विराम को यतिभ्रष्ट कहते हैं।

स्त्रीणां सङ्गीतविधिमयमादित्यवंश्यो नरेन्द्र ,
पश्यत्यक्लिष्टरसमिह शिष्टैरमेत्यादि वृष्टम् ।
कार्याकार्याण्ययमविकलान्यागमेनैव पश्यन् ,
वश्यामुर्वी वहति नृप इत्यस्ति चैव प्रयोग ॥१५३॥

अर्थ—यह सूर्यवशी राजा सज्जन पुरुषो के साथ पूर्ण रस से युक्त स्त्रियो के सगीत-विधान को देखता है। इस प्रकार का पद्य (यतिभ्रष्ट) दोपयुक्त होता है।

यह राजा सम्पूर्ण कार्यो तथा अकार्यो को शास्त्र के अनुसार ही देखता हुआ स्वायत्त पृथ्वी को धारण करता है, इस प्रकार का प्रयोग दोप-रहित है।

टिप्पणी—यहाँ श्लोक की नीचे की दो पक्तियो में यह स्पष्टत प्रतिपादित किया गया है कि यदि सन्धि के विकार से श्लिष्ट पद के मध्य में यति आ जाय तो वह सुनने में उद्वेगजनक नही होती और न ही वह दोप माना जाता है।

लुप्ते पदान्ते शिष्टस्य पदत्व निश्चित यथा ।
यथा सन्धिविकारान्त पदमेवेति वर्ण्यते ॥१५४॥

अर्थ—जिस प्रकार पदान्तावयव के लोप होने पर अवशिष्ट भाग का पदत्व निश्चित रहता है उसी प्रकार सन्धिजन्य विकारयुक्त अन्तिम (भाग) भी पद ही समझा जाता है।

तथापि कटु कर्णाना कवयो न प्रयुञ्जते ।
ध्वजिनी तस्य राज्ञ केतूदस्तजलदेत्यव ॥१५५॥

अर्थ—तो भी (सन्धि-विकार में पूर्व अवशिष्ट को पदत्व स्वीकार करने पर भी) कवि लोग कर्णकटु वर्णों का प्रयोग नही करते। जैसे—उस राजा की सेना की पताका (केतु) ने बादलो को ऊँचा उठा दिया। इस प्रकार के प्रयोग व्यवहृत नही करते।

टिप्पणी—सन्धि होने पर भी श्रुतिकटु यतिभ्रष्ट दोप ही है।

वर्णाना न्यूनताधिक्ये गुरुलघ्वयथास्थिति ।
तत्र तद्भिन्नवृत्त स्यादेष दोष सुनिन्दित ॥१५६॥

अर्थ—जहाँ वर्णों की अल्पता या अधिकता तथा गुरु और लघु की अनियमित स्थिति होती है वहाँ पर यह 'भिन्नवृत्त' (छदोभग) दोष होता है जो विशेष निन्दनीय (गर्हित) है।

इन्दुपादा शिशिरा स्पृशन्तीत्यूनवर्णता ।
सहकारस्य किसलयान्यार्द्राणीत्यधिकाक्षरम् ॥१५७॥

अर्थ—शीतल चन्द्र-किरणें स्पर्श करती है यह वर्णाभाव है (अर्थात् *वर्णों की कमी है)। आम्रवृक्ष के कोमल पत्ते आर्द्र है यहाँ अक्षरों की* अधिकता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण के प्रथम पाद में आठ अक्षरो के स्थान पर सात अक्षर है तथा तृतीय पाद में आठ अक्षरो के स्थान पर नौ अक्षर प्रयुक्त हुए है। यह न्यूनाधिक्य ही भिन्न वृत्त है।

कामेन बाणा निशाता विमुक्ता,
मृगेक्षणास्वित्ययथा गुरुत्वम् ।
स्मरस्य वाणा निशिता. पतन्ति,
वामेक्षणास्वित्ययथालघुत्वम् ॥१५८॥

अर्थ—मृगाक्षियो पर कामदेव के द्वारा तेज बाण छोडे गये। यहाँ पर गुरुमात्रा छन्द शास्त्र के नियम के विरुद्ध है। सुनयनियो पर कामदेव के तेज बाण गिरते हैं, यहाँ पर लघुमात्रा यथास्थान नही है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'निशाता' के बीच की गुरु मात्रा तथा 'स्मरस्य' की लघुमात्रा यथास्थान नही।

न संहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत्।
तद्विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम् ॥१५९॥

अर्थ—मैं संहिता (वर्णों की आत्यन्तिक निकटता, संधि) नही करना चाहता ऐसा निश्चय करके प्रगृह्य आदि कारणो के विना ही पदो में असयोग रहता है वह 'विसन्धि' दोष कहा गया है।

टिप्पणी—व्याकरण के अनुसार वाक्य में प्रयोक्ता के अनुसार संधि का अभाव हो सकता है पर साहित्य-शास्त्र में (पद्य में) दोष माना गया है। व्याकरण में प्रगृह्य आदि नियमो के उल्लेख के कारण विसन्धि का होना दोष नही पर फिर भी कम प्रयोग ही होना चाहिए।

मन्दानिलेन चलता अङ्गनागण्डमण्डले ।
लुप्तमुद्भेदि घर्माम्भो नभस्यस्मद्वपुष्यपि ॥१६०॥

अर्थ—आकाश मे बहती हुई मन्द पवन के द्वारा स्त्रियो के कपोलो पर तथा हमारे शरीरो पर उत्पन्न स्वेद-जल सुखा दिया गया।

टिप्पणी—यहाँ पर 'चलता' तथा 'अगना' में सन्धि हो सकती थी पर की नहीं। यह विसन्धि-दोषयुक्त है।

मानेर्ष्ये इह शीर्येते स्त्रीणां हिमऋतौ प्रिये ! ।
आसु रात्रिष्विति प्राज्ञैराम्नातं व्यस्तमीदृशम् ॥१६१॥

अर्थ—हे प्रिये ! इस हेमन्त ऋतु की इन रात्रियो में स्त्रियो के मान तथा ईर्ष्या का नाश हो जाता है। यहाँ पर इस प्रकार का संधि का अभाव विद्वानो द्वारा दोष-रहित स्वीकार किया गया है।

टिप्पणी—इस उदाहरण में 'मानेर्ष्ये इह' इसमें सन्धि का अभाव दोष-रूप में नही माना गया।

देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिः कालो रात्रिन्दिवर्तवः ।
नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ॥१६२॥

अर्थ—पर्वत, वन, राष्ट्र आदि देश, रात्रि, दिन, ऋतु आदि काल, राग, काम तथा धन के साधन नृत्य, गीत आदि ६४ कलाएँ हैं।

चराचराणा भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसञ्ज्ञिता ।
हेतुविद्यात्मको न्याय सस्मृति. श्रुतिरागम ॥१६३॥

अर्थ—स्थावर तथा जगम प्राणियो का व्यवहार ही 'लोक' सज्ञा से व्यवहृत किया गया है। हेतु (युक्ति) घटित विद्या युक्तिमूलक शास्त्र (न्याय) है तथा स्मृतिसहित श्रुति (वेद) आगम है।

टिप्पणी—उपरिलिखित इन दो श्लोको में 'देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम-विरोधी इस दसवें दोष की परिभाषा दी गई है।

तेषु तेष्वयथारूढ यदि किञ्चित् प्रवर्तते ।
कवे प्रमादाद्देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥१६४॥

अर्थ—इन देश काल आदि में से यदि कवि के प्रमाद से कुछ भी रूढि के विरुद्ध (प्रसिद्धि के विपरीत) वर्णित होता है तो वही देशकालादि-विरोधी दोष कहा जाता है।

कर्पूरपादपामर्शसुरभिर्मलयानिल. ।
कलिङ्गवनसम्भूता मृगप्राया मतङ्गजा ॥१६५॥

अर्थ—मलय समीर कर्पूर वृक्षो के ससर्ग से सुगन्धित है। कलिंग वन में उत्पन्न हुए हाथी मृग के समान लघु आकारवाले होते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में 'पर्वत तथा वन' देश के अन्तर्गत आने से वहाँ कर्पूर वृक्ष तथा हाथियो की उत्पत्ति न होने से देश-विरोध दोप है।

चोला कालागुरुश्यामकावेरीतीरभूमय ।
इति देशविरोधिन्या वाचः प्रस्थानमीदृशम् ॥१६६॥

अर्थ—चोला देशयुक्त तथा कृष्णगुरु चन्दन से श्यामवर्णयुक्त कावेरी की तटवर्ती भूमियाँ हैं। इस प्रकार देश-विरोधी वाणी की यह स्थिति है अर्थात् ऐसे वाक्य देश-विरोधी होते हैं।

टिप्पणी—चोला देश में कावेरी नही बहती है और कावेरी तीर पर चन्दन-वृक्ष नही होते। अत यह देश-विरोध है।

पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती ।
मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघदुर्दिन. ॥१६७॥

अर्थ—पद्मिनी रात्रि में खिलती है तथा कुमुदिनी दिन में विकसित होती है। निचुल वेंत वृक्ष वसन्त में प्रस्फुटित होता है। ग्रीष्म ऋतु में वादलो के कारण दुर्दिन रहता है।

अव्यहंसगिरो वर्षा शरदो मत्तबर्हिण ।
हेमन्तो निर्मलादित्य शिशिर श्लाघ्यचन्दन ॥१६८॥

अर्थ—वर्षा ऋतु में हसो का तथा शरद् ऋतु में मत्तमयूरो का शब्द सुनने योग्य है। हेमन्त ऋतु में सूर्य निर्मल होता है तथा शिशिर ऋतु में चन्दन लगाने की इच्छा होती है।

टिप्पणी—उपर्युक्त इन दो उदाहरणो में काल-विरोध-दोष है।

इति कालविरोधस्य दर्शिता गतिरीदृशी ।
मार्ग. कलाविरोधस्य मनागुद्दिश्यते यथा ॥१६९॥

अर्थ—इस प्रकार यह कालविरोध की पद्धति दिखाई गई। अब थोडा कला-विरोध का स्वरूप दिखलाया जायगा।

वीरभृङ्गारयोर्भावौ स्थायिनौ क्रोधविस्मयौ ।
पूर्णसप्तस्वर सोऽय भिन्नमार्ग प्रवर्तते ॥१७०॥

अर्थ—वीर तथा शृंगार रस के क्रमश. क्रोध तथा विस्मय स्थायीभाव हैं। सातों स्वर सगीत में एक-साथ प्रयुक्त होते हैं। यह कला-विरोधी दोष कहलाता है।

इत्थ कलाचतुःषष्टिविरोध साधु नीयताम् ।
तस्या कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ॥१७१॥

अर्थ—इस प्रकार चौंसठ कलाओ का विरोध सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। कला-परिच्छेद नामक ग्रथ में उस कला का स्वरूप स्पष्ट किया जायगा।

आधूतकेसरो हस्ती तीक्ष्णश्रृङ्गस्तुरङ्गम ।
गुरुसारोऽयमेरण्डो नि सार खदिरद्रुमः ॥१७२॥

अर्थ—हाथी ग्रीवा के प्रकम्पित वालो वाला है तथा घोडा तेज सीगो वाला है। यह एरड वृक्ष अत्यन्त मजबूत है तथा खैर (खादिर) का वृक्ष

नि सार है ।

टिप्पणी—यहाँ स्थावर तथा जगम में लोक-विरोध दोष प्रदर्शित किया गया है।

इति लौकिक एवाय विरोध सर्वगर्हित ।
विरोधो हेतुविद्यासु न्यायाख्यासु निदर्श्यते ॥१७३॥

अर्थ—उपर्युक्त यह लोक-प्रसिद्ध विरोध सर्वथा सबके द्वारा निन्दनीय है। न्यायसज्ञक हेतु विद्याओ में विरोध दिखाया जाता है।

सत्यमेवाह सुगत सस्कारानविनश्वरान् ।
तथाहि सा चकोराक्षी स्थितैवाद्यापि मे हृदि ॥१७४॥

अर्थ—गौतम बुद्ध ने सस्कारो को विनाश-रहित सत्य ही कहा है। इसीसे वह चकोरनयनी आज भी मेरे हृदय में विराजमान है।

टिप्पणी—पदार्थ मात्र क्षणभगुर होते है। उन्हे अविनश्वर कहकर हेतुविद्या का विरोध दिखाया गया हैं।

कापिलैरसदुद्भूतिः स्थान एवोपवर्ण्यते ।
असतामेव दृश्यन्ते यस्मादस्माभिरुद्भवा ॥१७५॥

अर्थ—कपिल मतानुयायियो (साख्यविदो) के द्वारा असत् (अनित्य, दुष्ट) ही उत्पत्ति का स्थान है। यह उपयुक्त ही कहा गया है। जिससे हमारे द्वारा दुष्टो का ही उद्भव देखा जाता है।

टिप्पणी—कपिल ने सत् मे उत्पत्ति का प्रादुर्भाव माना है। अत यहाँ पर साख्य के विरुद्ध कथन के कारण न्याय-विरोध है।

गतिर्न्यायविरोधस्य सैषा सर्वत्र दृश्यते ।
अथागमविरोधस्य प्रस्थानमुपदिश्यते ॥१७६॥

अर्थ—इस प्रकार यह न्याय-विरोध की गति सर्वत्र दिखलाई देती है। अब आगम-विरोध की पद्धति प्रदर्शित की जाती है।

अनाहिताग्नयोऽप्येते जातपुत्रा वितन्वते ।
विप्रा वैश्वानरीमिष्टिमक्लिष्टाचारभूषणा· ॥१७७॥

अर्थ—सदाचार (अनिन्दित आचार) वाले ये ब्राह्मण, जिन्होंने

कभी भी अग्निहोत्र नही किया था, पुत्रोत्पत्ति होने पर वैश्वानरी यज्ञ करते हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर श्रुति द्वारा अग्निहोत्र करने वालो के ही वैश्वानरी यज्ञ के अधिकार के प्रतिपादन के विरुद्ध कथन किये जाने के कारण श्रुतिविरोध दोष है।

असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरो ।
स्वभावशुद्ध स्फटिको न सस्कारमपेक्षते ॥१७८॥

अर्थ—इस (कुमार) ने उपनयन सस्कार के हुए विना ही गुरु से वेदो का अध्ययन कर लिया, क्योकि प्रकृति ही से निर्मल स्फटिक शुद्धि (सस्कार) की आवश्यकता नहीं रखता।

टिप्पणी—यहाँ पर अनुपनीत कुमार का वेदाध्ययन करना वताया जाना स्मृतिविरोध दोष है।

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीर्थी विगाहते ॥१७९॥

अर्थ—यह (देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम-सम्बन्धी सपूर्ण विरोध) कवि के वर्णन-चातुर्य से दोष-गणना का अतिक्रमण कर गुण-श्रेणी में अवगाहन करता है।

तस्य राज्ञ. प्रभावेण तदुद्यानानि जज्ञिरे ।
आर्द्रांशुकप्रवालानामास्पद सुरशाखिनाम् ॥१८०॥

अर्थ—उस राजा के प्रभाव से वे उपवन, जल से भीगे हुए (आर्द्र) वस्त्र ही जिनके नवीन पत्ते हैं, ऐसे पत्तों वाले कल्पवृक्षो के स्थान हो गये।

टिप्पणी—यहाँ मानव उद्यानो में कल्पवृक्षो का होना देश-विरोधी वर्णन होने पर भी राजा के अतिशय प्रभाव का द्योतक है। अत चमत्कार की व्यजना होने से उदात्त अलकार होने के कारण देश-विरोधी दोष-रहित होता हुआ गुण की कोटि को प्राप्त हुआ है।

राज्ञा विनाशपिशुनश्चचार खरमारुत. ।
धुन्वन् कदम्बरजसा सह ... १८१॥

अर्थ—राजाओ के विनाश का सूचक प्रचण्ड वायु कदम्ब-पराग के साथ सप्तच्छद अकुरो को प्रकम्पित करता हुआ चला।

टिप्पणी—यहाँ पर भी कालविरोध दोष गुण हो गया है।

दोलाभिप्रेरणत्रस्तवधूजनमुखोद्गतम् ।
कामिनां लयवैषम्य गेय रागमवर्धयत् ॥१८२॥

अर्थ—झूले के पंग से डरी हुई स्त्रियो के मुख से निकले हुए विषम लय-युक्त गीत ने कामियो के अनुराग को बढा दिया।

टिप्पणी—यहाँ कामियो के अनुराग की वृद्धि की व्यजकता के कारण यह कला-विरोध दोष ही गुण हो गया है।

ऐन्दवादर्चिष कामी शिशिर हव्यवाहनम् ।
अबलाविरहक्लेशविह्वलो गणयत्ययम् ॥१८३॥

अर्थ—यह कामिनी के विरहजन्य क्लेश से व्याकुल प्रेमी (कामातुर) चन्द्रकिरणो की अपेक्षा अग्नि को शीतल मानता है।

टिप्पणी—लोक-विरोध दोष गुण हो गया है।

प्रमेयोऽप्यप्रमेयोऽसि सफलोऽप्यसि निष्फल· ।
एकस्त्वमप्यनेकोऽसि नमस्ते विश्वमूर्तये ॥१८४॥

अर्थ—ज्ञेय होते हुए भी अज्ञेय हो, व्यष्टि-रूप से अश-युक्त होते भी समष्टि-रूप से अश-रहित हो, अद्वितीय होते हुए भी विश्वरूप हो। हे विश्वमूर्ति (सर्वव्यापक)! तुझे नमस्कार है।

पञ्चाना पाण्डुपुत्राणा पत्नी पाञ्चालपुत्रिका।
सतीनामग्रणीश्चासीद्दैवो हि विधिरीदृश. ॥१८५॥

अर्थ—पाञ्चाल-पुत्री (द्रौपदी) जो पाँच पाण्डुपुत्रो (पाण्डवों) की पत्नी थी वह सती साध्वियो में अग्रणी (श्रेष्ठ) थी, दैव का इसी प्रकार का विधान था।

टिप्पणी—एक स्त्री का वहुपतित्व होना आगम-विरोधी दोप है जो गुण में परिवर्तित हो गया है।

शब्दार्थालङ्क्रियाश्चित्रमार्गा· सुकरदुष्करा· ।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिह सङ्क्षिप्य दर्शिता ॥१८६॥

अर्थ—इस (काव्यादर्श नामक ग्रन्थ) में शब्दालकार, अर्थालकार, सुगम तथा कठिन चित्रालकारो की पद्धति तथा काव्यो के गुण और दोष सक्षेप में दिखा दिये गये हैं ।

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन ,
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभि. ।
वाग्भि. कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ॥१८७॥

अर्थ—विशुद्ध बुद्धि वाला (मनुष्य), इस प्रकार से प्रदर्शित मार्ग के द्वारा दोष तथा गुणो की वशवर्तिनी निर्दोष (गुणयुक्त) वाणियो से मद-मत्त, नेत्रो वाली रमणियो से अभिसार करते हुए धन्य युवक के समान, रमण करता है तथा कीर्ति-यश प्राप्त करता है ।

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. काव्यादर्श : वादिजघालदेव-विरचित व्याख्या

२. काव्यादर्श : रगाचार्यशास्त्रीविरचित व्याख्या

३. काव्यादर्श : श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्य-विरचित व्याख्या

४. काव्यादर्श : भाषानुवाद व्रजरत्नदास

५. काव्यालकारसूत्रवृत्ति : श्री आचार्य विश्वेश्वरजी सिद्धान्त-शिरोमणि, सम्पादक डा नगेंद्र एम ए

६. भारतीय साहित्य-शास्त्र : श्री बलदेव उपाध्याय

७. संस्कृत-साहित्य का इतिहास : श्री कन्हैयालाल पोद्दार

८ साहित्यदर्पण श्री विश्वनाथ

९. स्टडीज इन द हिस्ट्री ऑव सस्कृत पोइटिक्स : श्री एस के. डे

१०. साहित्यदर्पण एङ द हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स श्री पी वी कारणे